वर्ष २] सस्ती-साहित्य-माला [पुस्तक २

हाथ की कताई-बुनाई

उल्थाकार

श्री रामदास गौड़ एम० ए०

वर्ष १] सस्ती-साहित्य-माला [पुस्तक ३
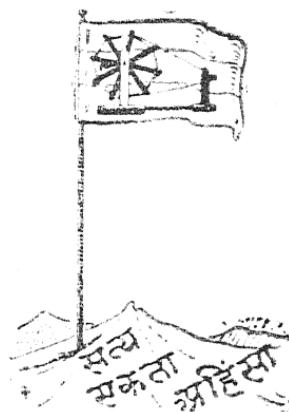
हाथ की कताई-बुनाई

(निबंध)

लेखक

श्री एस० वी० पुन्ताम्बेकर

और

श्री एन. एस. वरदाचारी

उल्थाकार

श्री रामदास गौड़, एम० ए०

प्रकाशक

सस्ता-साहित्य-प्रकाशक मण्डल

अजमेर

प्रथम बार] १९२७ [मूल्य ॥=

प्रकाशक—
जीतमल लूणिया, मन्त्री
सस्ता-साहित्य-प्रकाशक मण्डल, अजमेर

हिन्दी प्रेमियों से अनुरोध

इस सस्ता-मंडल की पुस्तकों का विषय, उनका पृष्ठ-संख्या और मूल्य पर ज़रा विचार कीजिये। कितनी उत्तम और साथ ही कितनी सस्ती हैं। मण्डल से निकली हुई पुस्तकों के नाम तथा स्थायी ग्राहक होने के नियम, पुस्तक के अंत में दिये हुए हैं, इन्हें एक बार आप अवश्य पढ़ लीजिये।

* ग्राहक नम्बर—

* यदि आप इस मंडल के ग्राहक हैं तो अपना नम्बर यहाँ लिख रखिये, ताकि आपको याद रहे। पत्र देते समय यह नंबर ज़रूर लिखा करें!

मुद्रक—
गणपति कृष्ण गुर्जर,
श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस, काशी

प्रस्तावना

(भाषान्तर)

लोगों को याद होगा कि राष्ट्रीय महासभा के सहकारी कोषाध्यक्ष श्रीयुत् रेवाशङ्कर जगजीवन मेहता ने पिछले बरस के शुरू में कताई के बारे में सब से उत्तम लेख पर एक हजार रुपया इनाम देने की सूचना दी था। श्रीयुत् अम्बालाल साराभाई, श्री शंकरलाल बैंकर, श्रीमगनलाल गाँधी और मैं निर्णायक बनाये गये थे। अड़सठ निबन्ध आये। बहुत कुछ विचार के बाद निर्णायकों ने यह निश्चय किया कि श्रीयुत् एन० एस० बरदाचारी और आज कल बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के प्रोफेसर एस० वी० पुन्ताम्बेकर इन दोनों सज्जनों में इनाम की रकम बाँट दी जाय। दोनों इनाम पानेवालों से कहा गया कि अपने लेखों को मिला कर दोनों का एक निबन्ध तैयार करें। आज जो पोथी सर्व-साधारण की भेट है, उन्हीं की मिलीजुली कोशिश का फल है। यह कहना कठिन है कि ऐसी कोशिश से असली निबन्धों से कितना सुधरा हुआ रूप होगा। परन्तु हाथ की कताई के भारी मैदान में जो लोग काम कर रहे हैं उन्हें अपनी स्थिति को दृढ़ बनाने में इन पत्रों से बहुत कुछ सामग्री मिलेगी और अगर हाथ की कताई-बुनाई पर सन्देह करनेवालों को सोच विचार के लिये इसमें काफी सामग्री न मिली तो मुझे बड़ा आश्चर्य होगा।

लेखकों ने विशेष करके नीचे लिखे प्रस्तावों की पूरी जाँच करने की कोशिश की है।

(१) क्या हिन्द में ऐसे करोड़ों आदमी हैं जिनमें से बहुत से लोगों को किसी सहायक रोज़गार की ज़रूरत है जिसके बिना बरस में कम से कम चार महीने उन्हें बिल्कुल बेकार रहना पड़ता है ?

(२) क्या हाथ की कताई ही एक सहायक रोज़गार है और अगर है तो क्या लोग उसे आसानी से कर सकते हैं ?

(३) क्या विदेशी और देशी मिलों की लागडांट के होते हुए भी यहाँ के लोगों में हाथ के कते बुने खद्दर की बिक्री होती रह सकती है ?

पढ़नेवाले देखेंगे कि लेखकों ने इन बड़े ज़रूरी सवालों के जवाब में " हाँ " कहा है, और उसको दलील से पुष्ट करने की कोशिश की है ।

जो लोग भारत की जनता की दशा सुधारना चाहते हैं, क्या उनमें से हरएक का यह कर्तव्य नहीं है कि जो कुछ इन लेखकों ने लिखा है ध्यान से पढ़े और अगर उनके नतीजों को कबूल कर लेता है तो खद्दर के आन्दोलन में सहायता दे ? जो सच्ची बातें लेखकों ने दलील में पेश की हैं अगर उनका खण्डन करने की वह हिम्मत करे तो भले ही इस लेख को बेकार मेहनत कह कर निन्दा कर सकता है ।

साबरमती
१६, नवम्बर १९२६

मो० क० गांधी

उल्थाकार का निवेदन

भाषान्तर का काम अत्यन्त कठिन है और भारी जिम्मेदारी का। आदर्श उल्था वही समझा जाता है जिसमें मूल का भाव पूरा पूरा आवे, भाषा की सुन्दरता और शील नष्ट न हो और सहज ही समझ में भी आवे। हाथ की कताई-बुनाई का सरल हिन्दी में प्रचार अत्यन्त प्रिय होने के कारण अपनी कमजोरियों को खूब जानते हुए भी मैंने म० गाँधीजी की आज्ञा से इस काम को हाथ में लेने का साहस किया है। मूल लेखकों ने जिस सुन्दरता से परायी भाषा में लिखा है, अब भी मैं चाहता हूँ कि वैसी ही सुन्दरता से अपनी भाषा में लिख सकता। यह उल्था बहुत जल्दी हुआ है, सही, पर इसमें जो त्रुटियां हैं वह मेरी अधिक हैं, समयाभाव की कम।

मूल में अनेक जगह छापे की भूलें हैं। उल्थे में जहाँ उनको सुधारा गया है, वहाँ हिन्दी की ही छपाई की भूलें पुस्तक शीघ्रता में छपाने के कारण कहीं अधिक रह गयी हैं। शुद्धि-पत्र देख-कर पुस्तक शुद्ध कर लेने का कष्ट कम लोग उठाते हैं। इसी लिये लम्बा शुद्धि-पत्र नहीं दिया गया। भरसक अंकों में कोई भूल नहीं छूटी है।

मूल में जहाँ जहाँ ईसवी सन् हैं, उल्थे में विक्रमी संवत् कर दिया गया है। ५७ घटा देने से ईसवी सन् बन जाता है।

मूल में एक दो सारणियों को छोड़ कर प्रायः सब जगह जहाँ सोने का सिक्का पौंड था, वहाँ उसे १५) का मान कर रुपये के अंक लिखे गये हैं कि हिन्दी के पढ़नेवालों को सुभीता हो। सिक्के की बदलाई का भाव बदलता रहता है, इसलिये यह बात

यहाँ बतायी गयी है। जहाँ अंकों की कमी बेशी का केवल मिलान करना रहता है, वहाँ भँजाई के भाव की कमी बेशी से कोई हरज नहीं होता।

जहाँ टनों का प्रयोग है वहाँ उसके मन बना दिये हैं। तौल-वाला पौंड कई जगह करोड़ों की गिनती में आया है। वहाँ ४०) भर के आध सेर के बराबर पौंड की तौल मान कर उस पूरी संख्या के मन बना दिये हैं। ८०) भरकी तौल को सेर माना है और ऐसे ही ४० सेर का एक मन माना है। तौल में प्रान्तों में भी भेद है, इसीलिये यहाँ उसका उल्लेख कर दिया गया।

उल्थे में इस बात की भरसक कोशिश की गयी है कि भाषा सब तरह के लोगों को समझ में आवे और खास तौर पर उन लोगों को इसे समझने में कठिनाई न हो जा चरखासंघ में काम करते हैं।

बड़े बड़े अवतरण जो मूल में प्रस्तर के गर्भ में रखे गये थे, उल्थे में उनके भाषान्तर को अलग प्रस्तर का रूप दे दिया गया है। जहाँ कहीं जो वाक्य ज्यादा महत्व के दीखे, उन्हें भिन्न टाइप में उल्थाकार ने कर दिया है। मूल में यह भेद नहीं रखा गया था।

विभक्ति प्रत्ययों को प्रकृति से मिलाकर लिखना ही मेरे मत से शुद्ध है, और इसमें छपाई की भी किफायत है। परन्तु प्रकाशक के आग्रह से इसकी छपाई में प्रत्यय प्रकृति से अलग रखे गये हैं। मेरे ऊपर इसका दायित्व नहीं है।

बड़ी पियरी, काशी
२५ फाल्गुन, १९८३

रामदास गौड़

विषय-सूची

पहला अध्याय

हिन्द में हाथ की कताई-बुनाई का अंग्रेजों के आने के पहले का इतिहास

विषय | पृष्ठ

दूसरा अध्याय

हाथ की कताई-बुनाई की बरबादी

विषय पृष्ठ

तीसरा अध्याय

हाथ की कताई-बुनाई से क्या क्या हो सकता है ? भारत के मिल व्यवसाय से उसका मिलान

चौथा अध्याय

चरखे से विदेशी कपड़े के बहिष्कार पर विचार

खद्दर के सम्बन्ध में अनमोल उपदेश

"हमें आज ही विदेशी वस्त्रों का मोह छोड़ देना चाहिए। हमारी परतंत्रता का कारण यही विदेशी वस्त्रों का मोह है। इसी मोह के कारण आज हम इतने दीनहीन हो गये हैं। इसी मोह के कारण आज हमारे करोड़ों भाई भूखों मर रहे हैं। यही मोह अनेक दुर्भिक्षों को न्यौता दे रहा है और अनेक रोगों का पिता है जिसके कारण करोड़ों भारतीय प्रतिवर्ष मृत्यु के मुँह में जा पड़ते हैं। यही मोह हमारी तमाम विपदाओं का जनक है। शुद्ध पवित्र खादी ही धारण कीजिये, यही सब आपदाओं को हरण करेगी। यही आपके करोड़ों भाइयों को भीषण दुर्भिक्षों से बचावेगी और आपको स्वराज्य प्राप्त करा देगी।"

—"नवजीवन" ता० ९ एप्रिल १९२२

❀ ❀ ❀

बहनें इस बात का विचार क्यों नहीं करतीं कि विदेशी कपड़ा पहिनने में कितना पाप है? महीन कपड़े बिना यदि काम नहीं चलता हो तो उन्हें महीन सूत कातना चाहिए। धर्म की रक्षा का अंश तो स्त्रियों में ही अधिक होता है। भावी सन्तान को हमें यह कहने का मौका तो हरगिज नहीं देना चाहिए कि स्त्रियों के बनाव शृंगार के बदौलत भारत को स्वराज्य मिलते मिलते रुक गया।"

—श्री० कस्तूरीबाई गान्धी

लागत का ब्योरा

कागज़	४५०) रु०
छपाई	३४०) ,,
बाइंडिंग	६८) ,,
लिखाई, व्यवस्था, विज्ञापन आदि खर्च	५१०) ,,
	१३६८) रु०

कुल प्रतियाँ ३०००

कागत मूल्य प्रति संख्या ।≤)॥

हाथ की कताई-बुनाई

हाथ की कताई-बुनाई

पहला अध्याय

हिन्द में हाथ की कताई-बुनाई का अंग्रेजों के आने के पहले का इतिहास

१. प्रस्तावना

यह बात अक्सर बिना बिचारे कह दी जाया करती है कि गाँवों में करोड़ों भारतीयों का जीवन सदियों से बिना फेरफार के ज्यों का त्यों बना हुआ है। पर सच बात कुछ और ही है। पहले जो लोग खुशहाल, मेहनती और सन्तोषी थे, जो अपने अपने धंधों में बराबर लगे रहते थे, जिनमें कला और हाथ की कारीगरी का अद्भुत चमत्कार था, वही लोग मानो किसी प्रबल और भयानक शाप से धीरे धीरे बेजाने ही दरिद्रता से पिसी हुई जाति बन गये। उन्हें साल में कई महीने तक कोई धरम का धंधा न मिलने से ज़बरदस्ती बेकार रहना पड़ता है और नित की बढ़ती दरिद्रता और ऋण के बोझ से उठने के बेकार जतन करते रहना

पड़ता है। यह फेरफार ऐसा व्यापक है और इतना खटकता है कि यद्यपि हमारा आजकल का गाँव ऊपर से निश्चल और शान्त दीखता है तो भी पहले की सी स्वावलम्बी रँजीपुँजी पुरानी अनोखी बस्ती का कहीं पता भी नहीं है। जिन गाँववालों ने कभी घने और व्यापक वाणिज्य के मीठे फल चखे थे, अपने बाप दादों के पुराने धंधे अब खो बैठे हैं और लाचार गुलामी की रोटी तोड़ रहे हैं। अब तो गाँववालों का यही व्यापार है कि कच्चा माल उपजाते हैं और विदेशों में भेज देते हैं। अब उनका घर उद्योग धंधों से भरा नहीं रहा। अंग्रेज़ों की अवाई के बरसों पीछे भी गाँव चलते हुए उद्योग धंधों का केन्द्र था। कताई बुनाई इन घरेलू धंधों में ख़ास चीज़ थी। दो सौ बरस पहले यह धंधा ऐसा घर घर व्याप रहा था, नरनारी और बच्चे बच्चे इसे ऐसा जानते थे और करते थे, कि उन्हें इन धंधों का इतिहास सुनने की ज़रूरत न थी। परन्तु आज क्या दशा है? पुराने तागे झटका खाकर टूट गये हैं, उन्हें जगह जगह से जोड़ना है। भूली विद्या को सिखाना है। आज अंगुलियाँ काँपती हैं, उन्हें अभ्यास कराना है। पहले के से आनन्द और फुर्ती से ही उनसे चरखे चलवाना है।

२. कताई का इतिहास

कताई और बुनाई का इतिहास अत्यन्त पुराना है। इतना प्राचीन है कि शुरू से सिलसिलेवार वर्णन करना कठिन है। कताई और बुनाई तो इतने प्राचीन हैं जितने हमारे वेद। हिन्दू आत्मा ने जैसे पहले पहल ब्रह्मसूत्रों के गुननेवालों को बनाया वैसे ही कार्पास-सूत्रों के बुननेवालों को भी पैदा किया। जैसे

एक से अत्यन्त बारीक और पूर्ण ब्रह्मसिद्धान्त निकले, वैसे ही दूसरे से अत्यन्त बारीक और सुन्दर कपड़े बने। जिस समय मिस्र देश ने अपने विशाल स्तूप बनाये, और बाबुल-राज हम्मुरबि ने अपना बड़ा धर्म्म-शास्त्र बनाया, उस समय भारतवर्ष कब का इस अनोखे पथ का पथिक हो चुका था। जैसे अज्ञान-छिद्र को ढकने के लिये (वेदान्ती) "तत्ववाय" ने जीवात्मा को ज्ञान की चादर उढ़ायी, उसी तरह हमारे (बुननेवाले) तन्तुवाय ने मनुष्य के नंगे शरीर को कपड़ों से ढक दिया। भारत की अमर सभ्यता और सतयुग की कथा का सार इन्हीं दोनों की जीवनी में मिलेगा,—वेदान्ती की, जो तत्त्व का गुनने वाला था और कोष्टी की जो तन्तु का बुनने वाला था। एक सत्य का द्रष्टा था तो दूसरा सच्ची कला का स्रष्टा था। तन्तुवाय की ही उपजाऊ बुद्धि की दृढ़ नींव पर भारत की कला और व्यापार का मंदिर बना था, इस लिये हम अब उसीका इतिहास कहेंगे।

३. वेदों में बुनाई की चर्चा

यह बहुत संभव है कि बुनाई का काम कताई के पहले ही शुरू हो गया हो और शायद पहली बुनाई कपड़े की न रही हो। हम जब बुनाई के विकास पर विचार करते हैं तो सभ्यता के उष:काल से हमें आरम्भ करना पड़ता है, पर यह बात तो निश्चय है कि मनुष्य ने जभी यह कला निकाली तभी उसे आखिरी हद को पहुँचा दिया। ताना तनने, भरनी करने और ताने के एक एक सूत को छोड़कर उठाने की जो अजब हिकमत निकाली तो ऐसी कि हजारों बरस बीत गये, फिर भी कोई इससे बढ़कर हिकमत

न निकाल सका। ऋग्वेद के दसवें मंडल के एक सूक्त में लिखा है कि "पितर लोग बुनते थे, और ताना भरनी करते थे।" इस मृदुल कला का ऋषियों के मन पर ऐसा गहरा प्रभाव पड़ा था कि नित्य सत्य और रहस्य को समझाने के लिये बुनाई से बढ़-कर उन्हें रूपक ही न मिलता था। बुनने की कला की भांति भांति की चर्चा ऋग्वेद में भरी पड़ी है। एक जगह लिखा है "यज्ञ के पट को पूर्ण करने के लिये * दिनों का ताना और रातों को भरनी होती रहती है।" जिस प्रजापति के यज्ञ से सारी सृष्टि हुई उसको ऋग्वेद में कताई-बुनाई का रूपक दिया गया है। वेदों के युग में तो बुनाई घर का एक धंधा था। उस समय भी रात को चूहे सूत काट जाते होंगे, क्योंकि ऋग्वेद में एक जगह इस बात की यों चर्चा है "चिन्ताएं मुझे उसी तरह काट रही हैं जैसे चूहे बुनकार का तागा काट डालते हैं" [१०।३३।३]। बुनाई तो नित्य की और घर घर की बात थी ही, पर इसके सिवा इस काम में पटु-ता का अपूर्व प्रभाव पड़ा होगा। "तुम अपने सूक्तों की रचना ऐसा करते हो जैसे बुनने में होशियार लोग पट बुनते हैं।" (१०।१०६।१) तेजस्वी ऋषिगण आकाश के भीतर और समुद्र की गहराई में भी नित्य नया पट बुनते रहते हैं" इन मन्त्रों में हमारे ऊपर के कथन का प्रमाण मिलता है।

४. कताई का रूपक

चारों संहिताओं में, ब्राह्मणों में, उपनिषदों में, और अन्य पारमार्थिक साहित्य में भी कातने का रूपक बारंबार दिखाई पड़ता

* Wilson's Rigveda, II, page 228.

है। हमारे पुरखों के जीवन में कताई का कितना बड़ा स्थान था, यह बात नीचे के कुछ नमूने के अवतरणों से प्रकट हो जाती है। इसमें तो जरा भी शक नहीं कि कताई अत्यन्त मामूली कला थी, परन्तु तो भी उसकी गिनती पावन संस्कारों में थी। देवाधिदेव भगवान् विष्णु का नाम ही "सुतन्तुः" और "तन्तुवर्धनः" है। अग्निदेवता के आवाहन-गान में देवताओं से ऋषि की प्रार्थना है कि "प्राचीन सूत कात डालें" अच्छी तरह कते सूत के अटूट तार से मनुष्य जाति के और जीवन के भी सतत बने रहने की उपमा दी जाती है। "बराबर एक तार कतते रहनेवाले सूत की तरह (तन्तुमाततं, ऋग्वेद १०।५६।६) पितरों ने धरती पर अपनी सन्तति को छोड़कर अपनी सत्ता बना रखी है।" एक जगह इस तरह तेहरे बटे हुए डोरे की चर्चा है, "जिसे तीनों संध्याओं के महायज्ञ रूपी तेहरे सूत का कातना (तन्तुं तन्वानः त्रिवृतं) मालूम है की उसने सूर्य्य की रश्मियों को पहन रखा है" (९।८६।३२)।

सर्व साधारण में कताई बुनाई का व्यापक प्रचार था।* यह बात अथर्ववेद की इस चर्चा से सिद्ध होती है, कि विवाह के

---

* वेदों में इस सम्बन्ध के कई पारिभाषिक शब्द मिलते हैं। शायद पाठकों को यह शब्दावली रुचे इसलिये यहां देते हैं। ओतु = भरनी। तन्तु = ताना। [वा = बुनना। तत् = तानना, फैलाना।] प्रवय = आगे बुनो। अपवय = पीछे बुनो। तसर = ढरकी। वेमन् = करघा। वाय = बुननेवाला। मयूख = खूंटा। तर्कु = तकुआ। सिच = किनारा। सीरी = बुननेवाला रजयित्री = रंगरेजिन। द्रापी = ओढ़ना। पांडव = बेरंगा कपड़ा। परिधान = कपड़ा। अधिवासः = ओढ़ना। पेशस = कामदार कपड़ा। प्रघात = अंचल। वायित्री = बुनकारिन। वासोवाय = बुनकार। तूष = झालर।

पहले दिन नव-वर अपनी वधू के हाथ का कता बुना कपड़ा पहनता है। बड़े कुतूहलकी बात है कि उड़ीसा के संभलपुर जिले में और आसाम में भी कई जगह आज भी यही चाल है और इन जगहों में नयी बहुओं को पहले साल तो कातने के सिवा और कोई काम ही नहीं मिलता। उसी पुरानी चाल से बची बचायी रीति है कि आज भी प्रायः सभी जगह वर को लोढ़ा, मूसल, तकली और रुई से परछती हैं, मानों उसे चेताती हैं कि यही चारों घर के भीतर सुख और संतोष के आधार हैं। अब भी यही बात है और वेदों के युग में भी यही बात थी। घर के लिये सूत कातने से जीवन की पहली आवश्यकता पूरी होती थी और बड़े छोटे सबको इस कला का अभ्यास करना पड़ता था। अब की तरह तब भी ब्राह्मण अपना यज्ञोपवीत कातकर बनाता था। छोटे से छोटा और बड़े से बड़ा आदमी भी कताई के कर्त्तव्य से छुटकारा नहीं पा सकता था।

५. वैदिक युग के भाँति भाँति के पहिरावे

वेदों के युग और रामायण महाभारत के काल में नर नारियों में सिलाई की कला बहुत दूर तक पहुँच चुकी थी। पुरुष तीन कपड़े पहनते थे। भीतरी को नीवी कहते थे। ऊपरी कपड़े को परिधान या अधिवास कहते थे। एक और कपड़ा होता था उसे वस्त्र कहते थे। पगड़ी भी पहनी जाती थी जिसे उष्णीष कहते थे, [अथर्ववेद ८।२।१६]। तैत्तिरीय ब्राह्मण में एक प्रकार के सुनहले कपड़े की चर्चा है। वेदों में लिखा है कि मरुद्गण जरी के कामदार कपड़े पहनते थे। ऋग्वेद के एक सूक्त में [५।५५।६] "व्योममंडल की तरह देखने में विचित्र सुन्दर वस्त्र पहनना" लिखा

है। इससे स्पष्ट है कि वेदों के युग में भी अत्यन्त महीन और मृदुल बिनावट और अनुपम सौन्दर्य के कपड़े जरूर बनते थे। अमीरों की बारीक धोतियाँ "प्रावार" कहलाती थीं। शरीर के ऊपर उत्तरीय पहना जाता था। स्त्रियों के लिये दो कपड़े होते थे। अन्तरीय तो साड़ी थी जो सिर से ओढ़ी जाती थी। उत्तरीय एक तरह की चादर थी जो सारे शरीर को ढकती थी। यह तो प्रकट है कि रामायण और महाभारत के युग में रेशमी ऊनी और सूती सभी तरह के भाँति भाँति के कपड़े बहुतायत से बनते थे और उनका बहुत बड़ा प्रचार था। वाल्मीकि ने लिखा है कि सीताजी के दहेज में ऊनी कपड़े, हीरे जवाहर, महीन रेशमी कपड़े, रंग बिरंग के जामे, राजकीय रत्न और आभूषण और भाँति भाँति के रत्न से जड़े रथ मिले थे (बालकांड ७४।४)। महाभारत के सभापर्व के ५१ वें और ५२ वें अध्याय में दुर्य्योधन ने जहाँ राजसूय यज्ञ में भारत के विविध राजाओं की लायी हुई भेट का वर्णन किया है वहाँ कहा है कि गुजरात के आभीर सुनहरे काम के शाल दुशाले, और उत्तम से उत्तम कम्बल लाये, कर्णाटक और महाशूर देश के लोग ऊन और कीड़ों के सूत (रेशम) के, और पट्ट के कपड़े और महीन मलमल लाये, पांड्य और चोल सुनहले काम के बहुत महीन सूती कपड़े लाये। इन बातों से प्रमाणित होता है कि इतने पुराने जमाने में भी कताई बुनाई की कला खूब बढ़ चुकी थी और पूर्णता को पहुँच चुकी थी।

६. कताई-बुनाई की व्यवस्था

कताई और बुनाई का काम भी असल में घरेलू धंधा था

और इस देश में तो सभी जगह व्याप रहा था। जैसा कि अभी आसाम में है, कातना और बुनना उस समय सारे भारत में घर-वाली का काम था। वात्स्यायन ने अपने कामसूत्रों में भार्य्या-धिकरण में घरवाली का प्रधान कर्तव्य पहनने के लिये कातना और बुनना जो लिखा है, * वह इसीलिये कि उसके समय में सदियों से यही चाल चली आ रही थी। बुनना घरेलू काम था, सही, पर ऐसा कोई न समझे कि बुननेवाली तब कोई जाति विशेष थी ही नहीं। सच तो यह है कि जबसे गावों में लोग संग-ठित रूप से रहने लगे तबसे ही बुनाई दिन भर का धंधा और सदा के लिये पेशा हो गया था और पीछे की संहिताओं और ब्राह्म-णों के युग में भी बुननेवाले और रंगनेवाले बहुत अच्छे संगठित रूप में पाये जाते थे। हाथ की कारीगरी और वाणिज्य की पंचा-यतें भी थीं और स्थानीय संगठन भी थे। पंचायती होड़ भी थी और स्थानीय मुकाबला भी था। पंचायतों के नेता राजाओं के सखा और सचिव होते थे।† दक्षिण भारत के बुनकारों का समाज ऐसा धनी और साखवाला था कि अक्सर लेनदेन का काम भी करता था और जनता का रुपया भी जमा करता था। कुछ बौद्ध शिलालेखों में राजाओं की चर्चा है कि बुनकार समाज के पास अपने धन को अमानत में रखते थे। जातकों में कथाप्रसंग में बुन-कारों की पंचायत की और उनमें प्रमुखों, ज्येष्ठकों और भांडा-गारिकों की भी चर्चा है। भीतरी बन्दोबस्त के लिये और अपने यहाँ उम्मीदवार छात्रों के प्रवेश और शिक्षा के लिये इन सभाओं

---

* कार्पासस्य सूत्रकरणं। सूत्रस्य वानं आच्छादनार्थम्।

† Cambridge History of India, Vol I. C. 219.

ने अपने नियम बना रखे थे। नारद स्मृति जैसी अत्यन्त पुरानी पोथी में दस्तकारी के आचार्यों की भी चर्चा है और आचार्य और छात्र के परस्पर सम्बन्ध के धर्म्म और कर्त्तव्य पर बहुत विस्तार से नियम दिये गये हैं।

७. मजूरी पर कताई और कपड़े का प्रमाण

देश की जनता के लिये अनाज या कपड़े खरीदने की तो कोई बात ही न थी, क्योंकि यह दोनों चीज़ें तो जनता आप उपजा बना लेती थी। राजा और रईस या धनीमानी शहरी ही मजूरी देकर कतवाते थे और अपने ही स्वार्थ के लिये महीन कताई की कला को प्रोत्साहन देते रहते थे। देश से बाहर माल भेजने-वाले व्यापारी मेलों में सूत मोल लेकर कपड़े बुनवा लेते थे। परन्तु हर राजा की गृहस्थी में बारीक कताई और बुनाई के लिये नियमपूर्वक एक विभाग ही चलाना पड़ता था। इस विभाग के बिना काम ही नहीं चल सकता था। कौटिलीय अर्थ-शास्त्र में सूत्राध्यक्ष नाम के एक भारी कर्मचारी के कर्त्तव्यों का विस्तार किया है और उसका दैनिक कार्य्यक्रम और काम दिखलाये हैं। इनमें से कई नियम तो अत्यन्त मर्मपूर्ण हैं। उनसे पता लगता है कि मजूरीपर कताई कैसे होती थी। जैसे, एक नियम में है, "कच्चे माल की अच्छाई के मुकाबले अगर कता सूत खराब निकला तो मजूरी काट ली जायगी।" इससे सिद्ध है कि हर तरह की रुई के लिये दरबार की ओर से बारीकी का प्रमाण ठहराया रहता था। उस प्रमाण से नाप में सूत अगर कम ठहरता था तो मजूरी भी हिसाब से घटा दी जाती थी। दरबार की ओर से कातने

वालों से कोई रिआयत नहीं की जाती थी। जो रुई कातने को दी जाती थी उससे सबसे उत्तम काम लिया जाता था और मजूरी के सबसे उत्तम नियम के अनुसार अर्थात् लम्बाई के नाप से मजूरी दी जाती थी। सूत पर शुद्ध वैज्ञानिक क्रिया होती थी और अच्छाई की ओर पूरा ध्यान दिया जाता था। कौटिलीय अर्थशास्त्र में यह भी लिखा है कि पांच पल कपास और पांच पल (क्षौम) पटसन से एक पल सूत निकलता है। यह और दूसरी तरह का हिसाब भी उस समय देशमें अच्छी तरह जानी बूझी बात होगी। कातनेवाले की तरह बुननेवालों को भी बँधे प्रमाण से काम करना पड़ता था। यही बात है कि कौटिलीय अर्थ-शास्त्र में मनु का बनाया वही नियम दोहराया गया है कि चावल के माँड़ से दस पल सूत पर माँड़ी करके ग्यारह पल कपड़ा अगर बुनकार न दे तो वह दंड पावेगा। कोई होशियार निरीक्षक बड़ी पैनी निगाह से बुनकार के काम की पूरी जाँच किया करता था और भारी या ज्यादा मांड़ी देकर और ढीला या कम सैसे बुनकर जो कुछ धोखा देने का जतन बुनकार करता था उसकी परख करके उसका अपराध लिख लिया जाता था। शुक्रनीति और भी पुराना अर्थ-शास्त्र का एक ग्रन्थ है। इसमें इस प्रसंग में एक महत्व की बात लिखी है कि उस समय एक अधिकारी होता था जिसे "वस्त्रप" कहते थे। उसका काम था कि ऊन रेशम आदि सभी तरह के कपड़े जहाँ से आते हैं वहाँ जाकर उनके सम्बन्ध की पूरी जानकारी पैदा करे, उनके मोटे महीन बिनावट को खूब समझे और यह मालूम करे कि कौन माल किस दशा में कितना टिकाऊ या कमजोर होगा। हर प्रान्त या राज की अपनी अपनी

विशेषताएं थीं। "दुकूल" नाम का मृदुल और उज्ज्वल कपड़े के लिये वंग (बंगाल) मशहूर था। रत्न के ऊपरी तल की तरह चिकना और कोमल और एकरस बराबर और मिश्रित तानेबाने के एक तरह के काले कपड़े के लिये पांड्य* देश प्रसिद्ध था। मथुरा, अपरान्त [आधुनिक बम्बई पूना प्रदेश] कलिंग (उत्तरी सरकार, उड़ीसा के दक्खिन), काशी, वत्स (कौशाम्बी अर्थात् प्रयाग और चित्रकूट के बीच का प्रान्त), और महिष वा माहिष्मती (जो आधुनिक भड़ौच के पच्छिम सतपुरा पहाड़ियों के आस पास था) यह सब प्रदेश कपास के कपड़ों के लिये प्रसिद्ध थे। (कौटिलीय अर्थ-शास्त्र २।११)।

८. दीनबन्धु चरखा

कताई का काम तो देश में अत्यन्त साधारण काम था, इस लिये सभी जानते थे कि जब कोई काम और तरह का न मिले तो ईमानदारी के साथ किसी न किसी तरह चरखा कातकर गुजर बसर हो सकता है। दिन दुखियों दरिद्रों के लिये चरखा रोजी थी, डूबतों के लिये सहारा था। जातक की एक कहानी में अपने मरते हुए पति को स्त्री तसल्ली देती है " मैं चरखा कात लेती हूँ, किसी तरह बच्चों को पाल पोसकर बड़ा कर लूँगी, आप चिन्ता न कीजिये। " यह कितनी जबरदस्त मिसाल है। चरखे से दरिद्रता बहुत कुछ घटायी जा सकती थी। अर्थ-शास्त्र में लिखा है कि सूत्राध्यक्ष का काम था कि एकदम दुर्बल दरिद्र, और अपङ्ग

---

*पांड्य देश आज कल त्रावणकोर (त्रिवंकुर) या केरल की रियासत से पूर्वी भाग है जिसमें मथुरा और तिरुनलवेल्ली जिले शामिल हैं।

को, लुंजों को, घर से बाहर न निकलनेवाली दरिद्र नारियों को पेट पालने के लिये काम खोजनेवाली दरिद्र कन्याओं को और इसी तरह के मुहताजों को कताई का काम दें। इस तरह चरखा एक तरह का दीनबन्धु था। जैसा कि मनु के योग्य भाष्यकार कुल्लूक भट्ट के लिखने से जान पड़ता है, मनु के समय में भी चरखा दीन-बन्धु था। जो दरिद्र स्त्रियाँ बाहर निकलकर मजूरी नहीं कर सकती थीं और विशेषतः जो विधवाएं थीं उनके लिये मनु के मत से चरखा ही एक मात्र धंधा था जिसमें वह धरम ईमान की कमाई कर सकती थीं।

९. सूती कपड़े का व्यापार और वाणिज्य-मार्ग

जब दूसरे देशों ने सूती कपड़ों का नाम भी नहीं सुन पाया था उस काल में सारे भारत में कताई बुनाई की कला व्याप रही थी और आमतौर से लोग कातते बुनते थे। यह बात तो इतिहास से पूरी तौर से सिद्ध हो चुकी है। इतिहास कहता है कि ईसा के कई हजार बरस पहले भी बाबुल देश में भारतवर्ष के सूती कपड़े जाया करते थे। असुरिया देश के सम्बन्ध में खोज करनेवालों में डाक्टर सैस का नाम प्रसिद्ध है। वह कहते हैं कि सिन्धु नदी के आसपास के प्रदेश में रहनेवाली और आर्य्य-भाषा बोलने-वाली किसी जाति से समुद्रमार्ग से बाबुलवालों के साथ व्या-पार-सम्बन्ध जरूर था क्योंकि बाबुल की कपड़ों की एक पुरानी सूची मिली है उसमें मलमल के लिये "सिन्धु" शब्द आया है। यद्यपि मिस्टर बेन सरीखे लेखकों को इस प्रसिद्ध वाद में सन्देह है कि मिस्र की समाधियों में सुरक्षित मुरदों को भारतीय मलमल

से लपेटते थे, तो भी भारतीय सूती कपड़ों के व्यापार की प्राचीनता में बट्टा नहीं लगता। सूती कपड़ों के लिये यूनानी भाषा में जो "सिंदोन" शब्द है वह तो व्याकरण-तत्त्व से भारत के सिन्धु से ही निकला सिद्ध होता है। यूनानी में मलमल के लिये "गंगेतिका" का शब्द बताता है कि मलमल कहाँ से आता था। छींट और सादे बारीक कपड़ों के लिये युरोप में "कालिको" का व्यवहार कालीकट का पता देता है जहाँ के समुद्र तट से ऐसे माल का चलान होता था। यह शब्द बहुत व्यापक और विस्तृत व्यापार का पता देते हैं जो समुद्र-मार्ग से बराबर सैकड़ों सदियों तक इस देश से जारी था। हीरोदोतस् ईसा से कई सौ बरस पहले यूनान का प्रसिद्ध इतिहास लेखक हो गया है। इसने लिखा है कि रूई एक प्रकार का ऊन है जो भेड़ के रोएँ से अच्छी होती है। सिकन्दर बादशाह का एक सेनानी अरिष्टबुलुस था। उसने लिखा है कि कपास ऊन का पेड़ होता है। उसमें एक ढोंढ़ी फलती है, जिसके भीतर का बीज निकाल कर बाकी चीज ऊन की तरह धुन ली जाती है। सिकन्दर के अमीराल नियरकुस ने सूचना भेजी थी कि भारतवर्ष में बड़े बड़े पेड़ होते हैं जिनकी शाखाएँ भेड़ के झुंड की तरह ऊन देती हैं। इसी ऊन से भारतवासी अत्यन्त उजले कपड़े बनाते हैं। * इन बातों से यह प्रकट है कि ईसा से सदियों

---

* युरोप के इतिहास के मध्य युग में एक विचित्र कहानी प्रचलित थी जिसका नाम था "तातरी मेमने का पेड़" या "शाकद्वीपीय मेमना।" यह समझा जाता था कि एक पेड़ में फलियाँ लगती हैं। जब वह फूट जाती हैं तो उसके भीतर एक नन्हासा मेमना दीखता है। इन्हीं पेड़ के मेमनों के अत्यन्त उजले ऊन से ऐसे मेमनों के देशवाले लोग कपड़े और

ले युरोप की सभ्यतम जाति यूनानियों को इतनी भी खबर न
कि रूई भी कोई चीज है। परन्तु रूई यहाँ तमाम फैली हुई
, सूती कपड़े सब के तन पर थे। बाहर का आदमी जब हिन्दु-
न में आता था तो इसे देखकर चकरा जाता था, कपास की
पार शक्ति उसकी निगाह में जम जाती थी और उसके बल पर
कपड़े का व्यापार होता था उसकी छिपी ताकत का थोड़ा
त अनुभव हुए बिना नहीं रह सकता था। देश के कोने कोने
भीतरी व्यापार और कारबार कसा हुआ था और इतना कह
ा काफी होगा कि कपास के माल का उस व्यापार में कोई भाग
था। उस समय देश में फैले हुए तीन बड़े व्यापारमार्ग थे।
१) पूरब से पच्छिम, बनारस से पच्छिमी किनारे के बन्दर-
हों भारुकच्छ (भड़ौच), सौवीर और उसके बन्दरगाह रुरुक
ादि के लिये, (२) उत्तर से दक्षिणपूर्व, गांधार से मगध देश
क, (शायद मिगास्थनीज पाटलिपुत्र से सिंधु की घाटी तक
जिस राजमार्ग की चर्चा करता है वह यही है), और (३)
तर से दक्षिण-पश्चिम, श्रावस्ती से प्रतिष्ठान तक (बस्ती से कों-
ण तक) था जिसमें छः प्रधान पड़ाव थे। इन बड़े व्यापार-मार्गों
तथा और दूसरे रास्तों से सूती माल बन्दरगाहों पर पहुँचते थे
र वहाँ से जहाजों पर लद कर देसावरों को जाते थे। बारीक
तेब और मोटा खद्दर दोनों लाखों मन तय्यार होते थे और
ड़कों से और जलमार्ग से, दोनों रीतियों से, पश्चिमी एशिया,

फे आदि बुनते हैं। इस अंधविश्वास को सरजान मंडेविल ने इंगलिस्तान में
ाया और ईसा की सत्रहवीं सदी के अन्त तक लोग इसकी सत्यता में
ास करते रहे।

शाम, बाबुल, ईरान, चीन, यवद्वीप, पेगू, मलक्का, यूनान, रो॰ और मिस्र को जाते थे। भारत के बाहर यह माल बड़े बड़े कार वानी मार्ग से, समरकन्द से, या हिन्दूकुश के दर्रों से या बुखार या खैबर से चलकर तुर्किस्तान और तातार से होकर रूस में पहुँचता था और मिस्र में पहुँचकर वहाँ से मध्यवर्त्ती समुद्र के देशों में पहुँचता था। हिन्दुस्तान और चीन के बीच में तो नाविक व्यापार बड़ी धूम से चलता था। ब्रह्मदेश (सुवर्णभूमि) का सारा समुद्रतट चीन तक, और मलयद्वीपमाला के समुद्री किनारे, भारतीय उपनिवेशों से और नाविक पड़ावों से जटित थे और महासागर चारी पोत जो बराबर इन पूर्वी समुद्रों में चलते रहते थे, इ॰ बन्दरों पर सुभीते से ठहरा करते थे। कुछ प्रसिद्ध बन्दरगाह औ॰ विशेष पोत-पड़ावों की चर्चा प्राचीन भारत के इतिहास में आय॰ है जहाँ से सूती माल देसावरों को जलमार्ग से जाया करता था यह नाम विशेष प्रसिद्ध हैं। (१) सिंधु के मुहाने पर का बर्बरि॰ कन। (२) खलीज खम्बात (अनाके या अपरान्तक ॰ पास) (३) उज्जैन, जहाँ से भड़ौंच को बहुत तरह ॰ माल जाया करता था। (४) पैठान और देवगिरि, कोकण प्रदे॰ के प्रधान महाराष्ट्रीय बाजार। (५) सुराट और नवसारी (६) कन्याकुमारी मछलीपत्तनम्, कावेरीपत्तनम् आदि औ॰ और द्रविड़ बन्दरगाह थे जहाँ यवन आदि देसावर के व्यापा॰ भरे रहते थे। थोड़ी समाई के बड़े मोल के माल समुद्रमार्ग ॰ व्यापार में विशेष रूप से उन दिनों जहाजों में भेजे जाते थे। इस कपड़े का सामान बहुत रहा करता होगा क्योंकि उस सम॰ भारत की वाणिज्यलक्ष्मी का यह व्यापार कोई छोटा अंश न था

वस्त्र-कला में भारत की कीर्ति ने और औद्योगिक रसायन में उस की बड़ी बड़ी खोज और उन्नति ने उसे पूर्व और पश्चिम के सारे बाजारों का अनेक सदियों तक स्वामी बना रखा था। उसके बन्दरगाहों में सदा व्यापारियों की भारी भीड़ रहती थी, व्यापार वहाँ सदा बढ़ती पर था और संसार में अधिक से अधिक फैलता जाता था। इन बातों को देखकर हर विदेशी यात्री जो इस देश में आता था अपने आप खुशी से इसकी जीभर प्रशंसा किया करता था।

१०. विदेशियों की गवाही

प्राचीन भारत में कताई-बुनाई का प्रचार इतने रूपों में था और ऐसी उत्तमता और वैज्ञानिक पूर्णता को यह कलाएं पहुँच चुकी थीं कि इस देश में जो ही विदेशी यात्री आता था चाहे व्यापार के लिये हो, चाहे तीर्थयात्रा आदि अन्य कामों से हो, वह यहाँ की रूई की करामात को देखकर अवाक् रह जाता था और अचरज की निगाहों से देखता था और इस देश के सूत के काम की जी खोलकर प्रशंसा लिखने को उसे लाचार होना पड़ता था। प्रेरिप्लुस* का रचयिता, जो संसार के वाणिज्य और व्यापार पर सब से प्राचीन प्रमाणों में गिना जाता है, अनेक तरह के भारतीय कपड़ों की चर्चा करता है और उनका "कार्पासास्" नाम देकर साधारण, उत्तम और अत्यन्त महीन प्रकारों की विवेचना करता है। वह यह भी लिखता है कि भारत में रूई गद्दों में, तकियों में

* Periplus of the Erythrean Sea.

और रजाइयों में भी भरवाते हैं। इसी (विक्रमी १८८-१९२) सदी के बीतते बीतते आर्य्यान भी आया था। उसने लिखा है कि और सभी देशों से कहीं अधिक उजले सूती कपड़े अरब के लोग भड़ौंच से लाल समुद्र में ले जाते थे और अदूली में उतारते हैं और यह भी लिखा है कि मछलीपटनम् के रंगीन थानों का वाणिज्य बड़ी धूम से चल रहा है। और यह कि हिन्दुस्तान के लोगों का पहिरावा धोती और दुपट्टा यही दो चीज़ें हैं, परन्तु अधिकांश बहुत चमकीला और रंग बिरंगा या फुलवर के काम का अत्यन्त सुन्दर होता हैं। हर विदेशी के लिये भारत रुई का देश था। सूती कपड़ों के लिये रोम और रोम साम्राज्य अधिकांश भारतवर्ष का ही ग्राहक था। भारत का तय्यार माल मिश्र देश के द्वारा रोम देश में पहुँचता था। यह भारत और मिश्र देश का पारस्परिक नाविक व्यापार एक हज़ार बरस के लगभग जारी रहा और तभी इसका अन्त हुआ जब खलीफा उमर ने मिश्र पर विजय पायी और भारत से उसका व्यवहार बन्द कर दिया। विक्रम की पहली शताब्दी के लगभग रोमन जाति ने भारतीय सूती कपड़े को अपना राष्ट्रीय पहिरावा बनाया। रोमन लोगों ने अपनी गुण-ग्राहकता को इस हद तक पहुँचायी कि वह भारतीय मलमल के, रेशमी कपड़ों के और सुनहले कामदार बढ़िया ज़री के कपड़ों के कल्पनातीत ऊँचे दाम देते थे, जिस पर बड़े प्लैनी को बड़ा क्रोध आया। उसने इस फजूल खर्ची की घोर निन्दा की है और लिखा है कि इस अपव्यय में पचीस करोड़ के लगभग राज्य का खर्च हो जाता है।*

---

* रोम में रेशम, मलमल और खद्दर इतने दामों पर बिकते थे कि

भारत के सूती कपड़े के नफ़े का व्यापार सदियों तक जारी रहा, क्योंकि संसार में इसके मुकाबले की कोई चीज ही न थी। गुजरात और कारामंडल के सामुद्रिक किनारों के बन्दरों से देसावरों में सूती कपड़ों की धारा सी बह रही थी। जुष्टिनियन की विधान-माला में [वि० ६०९] जहाँ उन वस्तुओं की सूची है जिन पर कर लगाया था वहाँ भारतीय सूती कपड़े भी सूची में शामिल हैं। यह तो ऐतिहासिक बात है कि दूसरे खलीफा, हज़रत उमर लत्ते लत्ते उड़ा हुआ सूती अंगा पहने उपदेश देते थे। वह बारह जगह फटा था। हज़रत अली पतला सूती अंगा पहनते थे। बात तो यह है कि हर जगह भारतीय सूती कपड़ा सभ्य समाज का पहरावा था। ईरान, इराक, छोटी एशिया, एवद्वीप और हिन्द-चीनी द्वीपमाला, कोई देश इससे बचा न था। जो जो देश कपड़े मँगवाते थे, महीन कपड़े बहुत ज्यादा पसन्द करते थे। बंगाल की मलमल एक तरह से अनूठी चीज़ थी सही, पर देश में अकेले यही महीन मृदुल और सुन्दर चीज़ न थी। और भी दूर दूर तक इसी तरह के मशहूर कपड़े थे जिनके सांचे या ठप्पे का सौंदर्य्य और मृदुलता, भांति भांति के मनोमोहक रंगों का मेल ऐसा अनुपम था कि संसार में वह अपना जोड़ नहीं रखते थे। मारकोपोलो विक्रम की चौदहवीं शताब्दी में भारतवर्ष में आया था। वह आन्ध्र देश में बननेवाले महीन से महीन तंजेब और दूसरे कीमती कपड़ों की चर्चा करते हुए लिखता है कि

सुन कर अकल दंग हो जाती है। आरीलियन के राज्य में रेशम की कीमत उसी भर सोना था। तिबेरियस सीज़र को अन्त में कानून बनाना पड़ा कि कोई महीन पारदर्शी रेशम न पहने, क्योंकि उसका पहनना असभ्य और लज्जास्पद है।

"वास्तव में वह तो मकड़ी के जाले के तारों की तरह दीखते हैं। संसार में शायद ही कोई राजा-रानी हो जो इसे पहनने को लालायित न हो।" विज़गापत्तम का पंजम, मसूला की छींट, नज़ोर का सलीमपूर और अरनी के तंजेब को देसावरों में लोग शौक से खरीदते थे। बारबोसा जिसने विक्रम की पंद्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध के लगभग यात्रा की थी खम्बात के वर्णन में यों कहता है कि "यह शहर सभी देशों के व्यापारियों से भरा हुआ है यहाँ दस्तकार और माल तय्यार करने वाले गुणी* फ्लांडर्स की तरह हैं। यह बहुत ही लाभदायक और उन्नत व्यापार है।" बारबोसा के आने के कोई सौ ही बरस पहले कपास के पौधे दक्खिनी युरोप में लगाये जाने लगे थे†। कुछ दिनों तक रुई से कागज़ ही बनते थे। फिर इटली के राज्यों ने ही पहले पहल उससे कपड़े बनाने की कोशिश की। वीनिस, और मीलान, फिर सक्सनी और प्रुशा ने सूती कपड़े बनाये, परन्तु यह चीजें भारतीय माल को कहाँ पा सकती थीं? भारतीय सूती कपड़ों का रोजगार और भी चमक गया और धूम से जारी रहा। अरबों ने मध्यसागर के पूर्वी तट पर फैलाया और इटलीवालों ने लीवॉट में इसका प्रचार किया। पैरार्ड, बारबोजा, निकोलो-कोंटी, लिनशोटन आदि यात्रियों की साक्षी से सिद्ध है कि भारत के पच्छिमी और पूर्वी सभी द्वीपों और देशों में और दक्षिण अफ्रिका के मुल्कों में भारतीय सूत का बराबर साम्राज्य रहा। सम्वत् १५६० से

---

* आधुनिक बेलजियम, हालैंड और फ्रान्स के भागों से सम्मिलित एक प्राचीन युरोपीयन देश।

† "भारत का ऋणी जापान" (What Japan Owes to

१५६५ तक वारथीमा भारत में घूमा। बंगाल की समृद्धि के बारे में कहता है कि संसार के किसी देश में इतनी रूई न होगी जितनी कि बंगाल में है। उसने लिखा है कि बानघेल शहर से रेशमी और सूती माल से लदे हुए हर साल पचास पचास जहाज़ चला करते हैं। वेनिस का एक सौदागर सीज़र फ्रेड़रिक ६० वर्ष पीछे भारत में आया था। वह सेनटोम और पेगू के बीच हर तरह के सूती कपड़े के बहुत विस्तृत व्यापार का वर्णन करता है। यह कपड़े रंगे और छपे थे। "यह बहुत अनोखी बात है क्योंकि यह कपड़े रंग बिरंग के चित्रित और सुनहले हैं और इनके रंग जितना ही धोइये उतना ही चटकीले निकलते आते हैं।" विक्रम की १७वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के बीतते बीतते लिनशोटेन भी भारत में आया था। वह लिखता है कि "नेगपटनम, सेंटोम और मछलीपटनम में सूत का बड़ा ही सुन्दर सफ़ेद कपड़ा बनता है जो सभी तरह के रंगों का होता है। भाँति भाँति की बुनावट का बहुत महीन और बहुत उत्तम कामदार होता है, भारतवर्ष में इसे अधिक पहनते हैं और रेशम से इसे कहीं अधिक अच्छा समझते हैं क्योंकि यह इतना महीन और ऐसे बारीकी के काम का होता है कि इसके दाम रेशम से भी ज्यादा लगते हैं।"

इसके बाद का इसी शताब्दी का यात्री बर्नियर भी भारतीय सूती कपड़े की अनूठी बारीकी पर आश्चर्य करता हैं।

India) नाम के लेख में जो हिन्दू-जपानी समाज के मुखपत्र के जनवरी १९१० के अंक में छपा है, डाक्टर ताका कासू लिखते हैं कि यह बात जापान के सरकारी इतिहास में अंकित है कि ग्यारह सौ बरस पहले दो भारतवासियों ने पहले पहल रूई का जापान में प्रवेश कराया।

उसी समय टेवर्नियर भी भारत में आया था। मालवे और बंगाल के नयनसुख की बड़ाई करते हुये टेवर्नियर कहता है कि यह इतने महीन होते हैं कि हाथ में मालूम नहीं होते और जिस घड़ी सूत कतता रहता है, मुश्किल से दिखाई पड़ता है। और और यात्रियों के वर्णनों से निकाल निकाल कर इस तरह की बड़ाइयों के हम जितने चाहें उतने अवतरण सहज ही दे सकते हैं। ये सब के सब बहुत हैं। ये एक दूसरे का समर्थन करते हैं। सबसे यही सिद्ध होता है कि भारत के सूत की कारीगरी की चोखाई कभी घटी नहीं थी बल्कि सदियों की कुशलता और दक्षता ने राष्ट्र के चरित्र के ऊपर अपनी छाप लगा दी थी और जब माउन्ट स्टुवर्ट इल्फिन्स्टन ने सं० १८९७ में नीचे के शब्द लिखे थे तो केवल युगों की पुरानी साक्षी को दुहराया था। उसने लिखा कि भारत की सारी कारीगरी में सूती कपड़ा सब से अनोखा है। इसकी सुन्दरता और मृदुलता की सराहना युगों से होती आ रही है और किसी दूसरे देश में कोई कारीगर ऐसी उत्तम बुनावट और बारीकी के पास भी नहीं पहुँचा है।

११. भारतीय उत्तमता के कारण

वह क्या बात थी जिसने सूत की कारीगरी में भारतवर्ष को संसार को सिरमौर बना दिया ? एक बात तो बिल्कुल साफ़ है। सबसे बड़ी बात भारत के साथ यह थी कि इसी देश में रूई पैदा होती थी और यह कच्चा माल भारतवर्ष को यथेष्ट मिलता था। एक पहले के यात्री ने भी कहा था कि भारतवर्ष में जैसे अनाज बहुत था वैसे रूई भी बहुत थी। कुटुम्ब के कुटुम्ब और जाति की जाति इस कच्चे माल पर काम करती थी, उसके

हाथों की सफ़ाई युगों की मेहनत से आई थी, बड़े उत्साह से पैदा हुई थी और बड़ी कोमलता से उसका लालन पोषण हुआ था। तभी तो इन्हीं हाथों से वह महीन कपड़े निकलते थे जिनका जोड़ मनुष्य ने कभी देखा नहीं था। यहाँ धरती इतना उपजाती थी जितनी की कल्पना हो सकती थी और सारी जाति को बारीक काम के लिये अजीब ताकत दे देती थी। भारतीय बुनकार अपने मन से लगातार हाथ की मेहनत कर सकता था। रंगने और छापने की कला में अपने को सदा निपुण बनाये रहता था। इसीसे उसने संसार के सभी बाज़ारों पर सहज ही अपनी विजय का सिक्का जमा दिया। वह ऐसी अनुकूल ऋतु में काम करता था जिसमें सभी रंग चटकीले, टिकाऊ और सुन्दर हो जाते थे और उसकी कारीगरी में अनूठी छबि आ जाती थी। उसकी मेहनत का फल भी बहुत अच्छा मिलता था। उसकी चीज़ों के बहुत दाम मिलते थे। वह हमेशा जनता से सहायता पा सकता था और जनता भी उसके काम से खुश होकर उसे ऐसा मानती थी कि समाज में उसे बहुत ऊँची जगह देती थी। जनता के शरीर को सबसे अधिक कातने और बुनने वाले सजाते थे। इसलिये राष्ट्र भी उनसे अपना गौरव मानता था।

१२. मुसलमानों की संरक्षता

जहाँ तक भारत की व्यवसाय समृद्धि का सम्बन्ध है वहाँ तक तो बादवाली मुस्लिम चढ़ाइयों और विजयों से कोई भेद नहीं पड़ा। अगर कुछ भेद समझा भी जाय तो वह यही था कि मुसलमान सम्राटों ने हिन्दुस्तान की कारीगरी को और भी सम्मान दिया। जैसे पहले के हिन्दू राजाओं ने कताई और बुनाई की कला पर ध्यान दिया था मुसलमान सम्राटों ने भी इन कलाओं की रक्षा

की। इसके उदाहरण बहुत हैं। एक उदाहरण यह है कि ढाके की मलमल का व्यापार प्रायः कुल हिन्दू कातनेवालों और बुनकारों के हाथ में था। इन्हें ढाके के नवाबों और दिल्ली के सम्राटों ने सम्मान दिया, इनका हौसला बढ़ाया और इन पर बड़ी कृपा करते थे और मानते थे। नवाबों और सम्राटों को ऐशआराम और शान-शौकत की चाट थी, वह देशी कलाओं को बढ़ाने और सम्मान देने में आपस में बड़ी लाग-डाट थी। दुर्भाग्य से मुगल सम्राटों के ज़माने में देश में सूत की कारीगरी कैसी थी और कितना माल बनता था इन बातों का पूरा पता देनेवाली सामग्री या अंक नहीं हैं।

१३. अकबर के मरने के बाद

"अकबर के मरने के समय भारतवर्ष की दशा" पर लिखते हुए मि० मोरलैंड ने ऐसी एक अटकल बनाने की कोशिश की है और उस समय भारतवर्ष की जो आबादी थी उसका हिसाब लगा के यह आँका है कि प्राणी पीछे उस समय केवल १३ गज़ कपड़ों की ज़रूरत होती थी। उन्होंने यह किस तरह से निष्कर्ष निकाला है इस बात पर विस्तार से विचार करना इस ग्रन्थ का उद्देश्य नहीं है। हमारे लिये तो यहाँ इतना ही बता देना काफ़ी होगा कि जिस विधि से उन्होंने यह अंक निकाला है वह अत्यन्त दोषपूर्ण है। जहाज पर कितने टन लदाई होती है इन्हीं अंकों से सूत के विदेशी व्यापार का अन्दाज़ा करने की कोशिश की गई है। इस तरह के हिसाब में भूल की बड़ी गुंजाइश है और बहुत कुछ मतभेद भी हो सकता है क्योंकि इस मामले में मि० मोरलैंड के लिये केवल अंग्रेजी और ओलंदेजी जहाज़ों के कागज-पत्र और बीजक मात्र ही प्रमाण थे। फिर देश के भीतर सूती

माल के खपत के लिये उन्होंने अपने मन से अत्यन्त नीचा प्रमाण ठहरा लिया। जो हो एक बात तो डा० मोरलैंड के लिये भी साफ़ है और वे कबूल भी करते हैं कि कपड़े के लिये भारत के सारे बाज़ार पर भारतीय हाथ के करघों का ही इजारा था और इसके सिवाय देशावर में भेजने के लिये ३ बड़े निर्यात के बाज़ार थे, अरब से और दूर ब्रह्मदेश और पूर्वी टापू, और सिवाय इनके एशिया के दूसरे भागों में और अफ्रिका के पूर्वी किनारों पर बहुत से छोटे निकास भी थे। सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के लगते लगते पैरार्ड भारतवर्ष में आया था। उसने जब खंभात, सुराट, कालीकट और गोवा *आदि बन्दरगाहों की समृद्धि

---

* पैरार्ड ने कई बन्दरगाहों और मुख्य शहरों का विस्तार से वर्णन किया है। नीचे हम कुछ का सार देते हैं—

सुराट "मक्के का द्वार" या "सूर्य का शहर" गुजरात का एक प्रसिद्ध बन्दरगाह है। यहाँ के लोग बड़े गम्भीर समझदार और ऊँचे कद के होते हैं। सफेद नयनसुख के या रेशमी कामदार लम्बे चोंगे पहनते हैं। हर साल यहाँ से सफेद, रंगीन और धारीदार सभी तरह के कपड़े जिनके लिये गुजरात का बड़ा नाम है हर साल देसावर को भेजे जाते हैं।

भाउल—यह देश अत्यन्त रँजापुँजा है। यहाँ सब तरह की मोल की चीजें तैयार होती हैं जिन्हें भारत और पूर्व के सभी देशों के व्यापारी लोग बेचने के लिये आते हैं। सब से विशेष यहाँ का रेशम है। रेशमी कपड़े यहाँ इतने मिलते हैं कि सारे गोवा को तो क्या अकेले ही सारे भारत को पहना सकते हैं। यहाँ बहुत ही सुन्दर सुन्दर सूती कपड़े भी मिलते हैं।

सुनहला गोवा—पूरब और पच्छिम के सभी देशों और द्वीपों के व्यापारी यहाँ आकर मिलते हैं। यहाँ सभी तरह की भारतीय चीजें देशावर को जाती हैं।

और व्यापार को देखा तो उसके मन पर बड़ा प्रभाव पड़ा। उसने लिखा है*—

"यहाँ की प्रधान सम्पत्ति विशेष कर उत्तम प्रकार के रेशमी और सूती कपड़े हैं। इन्हीं से उत्तमाशा अन्तरीप से लेकर चीन तक के नर-नारी सिर से पैर तक लसे हैं। इन सब पर बढ़िया काम होता है और सूत के कपड़े भी बरफ़ की तरह से सफ़ेद होते हैं और अत्यन्त मृदुल और महीन होते हैं। उनकी सभी कारीगरी की चीज़ों में एक बात बड़े मार्के की है। वह यह है कि इतनी अच्छी कारीगरी के होते हुये भी माल सस्ता पड़ता है।"

देशावर भेजने के लिये खंभात की खाड़ी से, कारामण्डल और बंगाल के बन्दरगाहों से और सिन्धु के किनारे के मैदानों से माल का चालान होता था। पैराड के पहले जो बहुत से यात्री आये थे वह और आप भी सभी यहाँ के सूती माल के बहुत फैले हुये व्यापार को देख कर दंग हो गये थे। पीछे आने वाले यात्री बर्नियर और टेवर्नियर की भी यही दशा थी और यह तो बिना अत्युक्ति के कहा जा सकता है कि मुगल सम्राटों के राजों में बराबर यहाँ का प्रधान व्यवसाय कताई और बुनाई बड़े जोर से उन्नति करती रही।

१४. व्यवसाय औरों के हाथ में गया

उत्तर भारत के कुछ भागों में बुनाई की कला इसी समय के लगभग हिन्दुओं के हाथों से निकल कर मुसलमानों के हाथों

कालीकट—कालिको के नाम से कालीकट से बहुत महीन सूती कपड़े और भाँति भाँति के रंगे और छपे परदे आदि संसार के सभी देशों में भेजे जाते हैं। यहाँ पर सभी जातियों के लोग इकट्ठे होते हैं।

* Pyrard's Travels, Vol. II, p. 247

में गई। संयुक्त प्रान्त, पञ्जाब और बिहार में आज भी बुनकारों में अधिक आबादी मुसलमानों या जुलाहों की है। जैसे और और व्यापार और पेशों को हिन्दुओं के साथ साथ मुसलमानों ने अपना लिया, उसी तरह बहुत से मुसलमानों ने बुनकारी का पेशा भी उठा लिया। बुनकारी के काम का निश्चय ही बड़ा आदर होता था। दक्षिण भारत के तामिल प्रदेश में बहुत काल हुआ कि तिरुवल्लुवर नाम के भारी महात्मा और कवि इसी बुनकार जाति के हो गये हैं। उसी तरह उत्तर भारत में प्रसिद्ध महात्मा कबीरदास भी जो मुसलमानी काल में हो चुके हैं, जुलाहे थे और बुनाई के काम में ही उन्हें शान्ति और आनन्द मिलता था।

१५. धुनिया कब से हुआ

सूती माल के व्यवसाय से एक नया रोजगार भी पैदा हो गया। आजकल का धुनिया प्रायः सभी जगह मुसलमान ही होता है। इससे यह पता लगता है कि पहले पहल मुसलमानों के राज में रुई धुनना एक अलग पेशा बन गया। पहले पहल धुनिया को गद्दे, रजाई आदि का ही काम रहा होगा। पीछे उसने कातनेवालों को धुनी रुई देना शुरू किया और इस बात के लिये तो प्रमाण मिलता है कि देश के कुछ भागों में वह धीरे धीरे एक तरह का दलाल बन गया, कातने वाले और बुनने वाले को मिलाने का एक साधन हो गया, कपास जमा करने लगा, कातनेवाले को पूनिया बाँटने लगा, बुनकारों के लिये सूत जमा करने लगा और इस तरह से अपनी मजूरी के सिवाय रुई और सूत की बिक्री पर कुछ थोड़ा नफा कमाने लगा। यह बहुत सम्भव मालूम होता है कि इसके पहले हिन्दू लोग हाथ से या

छोटी धुनकी से अपनी रुई आप धुन लेते थे। आज भी तो बंगाल और दक्षिण भारत में हजारों कातनेवाले छोटी धुनकी काम में लाते हैं। बड़ी धुनकी और धुनिये के अलग रोजगार का इतिहास महत्व का है और इतिहास के खोजों को चाहिये कि इसकी छानबीन करें।

१६. युरोपवालों का संघर्ष

विक्रम की पन्द्रहवीं शताव्दी के उत्तरार्द्ध में पूरब के देशों में और विशेष कर भारतीय बाजारों में व्यापार को हथियाने के लिये युरोप की शक्तियों में आपस का रगड़ा-झगड़ा चला। सोने के लालच से वह भारतवर्ष में और पूरब के अन्य देशों में खिंच आये। पहले तो पुर्तगाली आये, फिर ओलन्देजी और अन्त में फिरंगी* और अंग्रेज आये। उनका असली मतलब था व्यापार, और वह तुरन्त ही भारतीय बुनकारों और दूसरे कारीगरों का माल बहुत नफे के साथ देशावर भेजने लगे। ईस्ट इण्डिया कंपनी की भारतवर्ष में सूरत, हुगली, मछलीपटनम और कालीकट में जो पहले पहल कोठियाँ बनीं वह तो असल में बुनकारों की बस्तियाँ थीं। भारतीय नयनसुखों की माँग इंगलिस्तान में बराबर बढ़ती जा रही थी और संवत् १७२२ में कम्पनी के विधाताओं ने अपने भारतीय गुमाश्तों को जो चिट्ठी लिखी उसमें यह भी लिखा था कि "भारतीय नयनसुख जो तुम लोगों की ओर से आया करता है उसकी माँग इस समय अत्यन्त बढ़ी हुई है, व्यापार का ध्यान इसी खास चीज़ की तरफ़ रक्खो।" यह व्यापार एक

* फिरंगी शब्द फ्रांस के निवासियों के लिये व्यवहार में आता था। पीछे सभी युरोपवालों के लिये रूढ़ि से इस शब्द का प्रयोग होने लगा।

शताब्दी से अधिक चला। इसका फल जो कुछ हुआ उस पर आगे चल कर विचार करेंगे। व्यापारी ईर्ष्या-द्वेष को, राजनैतिक अधिकार की लालसा सहारा दे रही थी। इसीने भारत की उस कला और भारी व्यवसाय को चौपट कर डाला जिससे कि पहले समय में एक भारी आबादी सुखी और समृद्ध थी, किसी बात की मोहताज न थी और जिसके हाथ से, निकल जाने से घोर दरिद्रता आ गई, बिल्कुल कंगाल हो गई। परन्तु जो हाथ-कुशलता और दक्षता हजारों बरस के अभ्यास से आई थी जिससे उत्तम और अनोखी चीज़ें बनती थीं बिना रगड़े-झगड़े के एक दम कुचली नहीं जा सकती थी। ढाके की मलमल इसका एक अच्छा उदाहरण है और मलमल के व्यापार के इतिहास से बहुत कुछ शिक्षा मिलती है।

१७. ढाके की मलमल

यह हम लिख आये हैं कि प्राचीन युनानी भी बंगाल की मलमल को जानते थे और उसे गंगेतिका कहते थे। पेरुप्लूस में जो डायाक्रोसिया शब्द आया है वह ढाके के चारखाने के लिये समझा जाना चाहिये यद्यपि अपोलोन्यूस ने उसे धारीदार या डोरिया लिखा है। रोम के साम्राज्य का जब सतयुग था तब वहाँ के शहरी बड़े गौरव से और बहुत शौक से सुन्दर और कामदार भारतीय मलमल पहनते थे। बंगाल की मलमल की ही चर्चा में प्लाइनी ने लिखा है कि "इसके भीतर से शरीर चमकता था।" इन कपड़ों की मृदुलता और सौन्दर्य की बड़ाई यात्री पर यात्री करते नहीं अघाते थे। नवीं शताब्दी के लगभग सुलेमान नाम का एक अरब यात्री आया था। उसने लिखा है।

"इस देश में एक तरह का कपड़ा बनता है जो और कहीं

पाया नहीं जाता। यह इतना महीन और ऐसा कोमल होता है कि इसकी बनी चीज़ को अंगूठी के भीतर से निकाल सकते हैं। यह सूत का बना हुआ होता है और मैंने इसका एक थान देखा है।"

यह बात ढाके की मलमल के लिये ही कही जा सकती है। हजारों बरस से इस कला का विकास होता आया था और जब पैराई बंगाल में आया था तो उसने यह भी देखा था कि कुछ कपड़े ऐसे महीन होते हैं कि जो कोई उनको पहनता है पता नहीं लगता कि पहने हुये है या नंगा है। राल्फफिच ने लिखा है कि सारे भारत में सब से महीन सूती कपड़ा ढाके के पास सोनार गाँव में बनता है। मलमल की तैयारी में कारीगर लोग ऐसा अनुपम कौशल दिखाते थे कि मुगल सम्राट् उनके काम पर मोहित थे और उनका बड़ा सम्मान और आदर करते थे। नूरजहाँ बेगम ने इस कला को खूब बढ़ाया और उसकी संरक्षता में इसका खूब नाम हुआ। सम्राटों के दरबार में जो भारी भारी मिलनेवाले आते थे उन्हें सम्राट् की ओर से जो सबसे बड़े तोहफे मिलते थे मलमल का थान होता था। टवर्नियर ने लिखा है कि "ईरान के राजदूत ने अपने बादशाह को सुरखाब के अंडे के बराबर एक नारियल का डब्बा भेंट किया जिस पर मोती जड़े थे जब वह डब्बा खोला गया तो उसमें से ६० हाथ लम्बी मलमल की पगड़ी निकली।" मलमल सभी जगह बड़ी आसानी से बिकती थी और जब ईस्ट इण्डिया कंपनी के सौदागर बंगाल में आये तो वह तो इसी पर टूटे पड़ते थे। विक्रम की वर्त्तमान शताब्दी के लगते लगते तक भारत से जो माल देशावर जाता था उसमें मलमल खास चीज होती थी। परन्तु इसके बाद जब विदेशों की

सस्ती और निकम्मी मलमल चल पड़ी तो धीरे धीरे यहाँ की मलमल का बनना बन्द हो गया। सं० १८९३ में डा० ऊर लिखते हैं कि "ढाके में अभी बराबर बारीक सूत कतता जाता है और ऐसी मलमल बराबर तैयार होती है जिसके जोड़ की चीज़ युरोप के हाथ और दिमाग़ से नहीं निकल सकती। इसको देखकर एक बड़े कुशल पारखी ने कहा है कि "मुझे तो यह समझ में ही नहीं आता कि इंगलिस्तान में जो बारीक से बारीक सूत कतता है उससे भी कहीं अधिक बारीक सूत यहाँ भारतवर्ष में तकली से कैसे निकाल लेते हैं और फिर करघे से कैसे बुनते हैं" इस कारीगरी पर युरोपवाले ललचाते थे। डा० टेलर ने सं० १८९७ में इस कारीगरी का पूरा ऐतिहासिक वर्णन किया है। उसमें लिखा है कि "ढाके की बहुत महीन मलमल सदा से फ़र्माइश पर तैयार होती आई है और यह फ़र्माइश भारत के भारी रईसों, अमीरों और ओहदेदारों की तरफ से होती आई है। मुगल शाहंशाहों के ज़माने में इन चीज़ों की जितनी भारी माँग थी उससे तो आजकल अत्यन्त कम हो गई है परन्तु तो भी आज इतनी काफी माँग है कि यह कला भूलने से बँची हुई है।

१८. ढाके की सूत की कताई

ढाके के सूत कातनेवाले कैसी कपास काम में लाते थे, कितना अच्छा सूत कातते थे, कताई की विधि क्या थी और फिर किस तरह इस सूत से कपड़े बुने जाते थे, इन बातों का वर्णन विस्तार से मौजूद है। इसमें तो शक ही नहीं कि जिस कपास से इतनी बारीक मलमल बनती थी, इसी ज़िले में उपजती थी। यह कपास शुद्ध "देशी" थी। वहाँ की धरती और मिट्टी विशेष प्रकार की

थी इसीलिये यह "देशी" कपास भी खास तरह की होती थी। बंगाल की ओर कपासों के मुकाबले में इसके रेशे बहुत महीन और ज़्यादा लम्बे होते थे तो भी आजकल के दक्षिणी द्वीप और अमेरिका की कपासों से मिलान करने पर इनके रेशे कुछ छोटे ठहरेंगे। ढाके के बुनकारों में इस रुई की एक साधारण परख यह थी कि धुलने पर यह रुई फूल आया करती थी। ढाके के कातनेवाले जिस पौधे से यह कपास लोढ़ते थे उसकी अच्छी तरह जाँच करके एक पारखी ने यह चार बातें लिखी हैं—

(१) शाखायें अधिक सीधी हैं और पत्तियों के किनारे अधिक नोकदार।

(२) सारे पौधे में लाल रंग की एक झलक है यहाँ तक कि पत्तियों की नसें और डंठल भी कम पारदर्शी हैं।

(३) जिन काण्डों पर फूल सँभले हुये हैं ज्यादा लम्बे हैं और पँखड़ियों का बाहरी किनारा कुछ सुर्खी लिये हुये है।

(४) रुई के रेशे बंगाल की ओर रुइयों के मुकाबले ज्यादा लम्बे हैं, बहुत महीन हैं और अधिक कोमल हैं।❀

यह पौधा साल भर रहता था और पाँच फुट तक बढ़ता था। जब इस व्यवसाय के बहुत अच्छे दिन थे तब इसकी खेती बहुत होती थी। उस समय रेशे की तरह तरह की अच्छाइयों का ख्याल किया जाता था। डा० टेलर ने जब ढाके के बारे में लिखा उस

❀ आज कल गंजाम के कातनेवाले जो कपास काम में लाते हैं वह भी गंजाम ही की चीज है। इसके रेशे बहुत लंबे नहीं होते परन्तु ऊपरी-तह चिकना और रेशमी होता है। वहाँ के पहाड़ी ढलुओं पर जहाँ अच्छी वर्षा होती है इसकी खेती होती है।

समय यह कपास खराब हो गई थी और नीचे दर्जे की हो चुकी थी। वह कहते हैं कि "इन दिनों अब इसकी फसल उतनी नहीं होती। पहले की बात तो और थी अब तो इसके रेशे यद्यपि उतने ही कोमल और उतने ही बारीक होते हैं तब भी लम्बाई में कुछ कुछ छोटे होते हैं और बीजों से कुछ अधिक चिपके रहते हैं।" बाँस की एक छोटी धनुही में ताँत या मूँगा रेशम की एक डोरी लगा कर इसी रुई को धुनते थे। डा० टेलर ने कताई और धुनाई की सारी विधि को विस्तार के साथ यों लिखा है—

"कातनेवालियाँ पहले कपास को समतल करती हैं, बीज को रेशों से अलग करने के लिये ओटनी, चरखी और दुल्लम काठी काम में लाती हैं, ओटनी चरखी हाथ से चलाई जाती है इसमें एक जोड़ी लहरियादार चूँड़ियाँ कटे हुए बेलन घूमते हैं। देश में सब जगह इसकी चाल है परन्तु यहाँ मध्यम दर्जे के सूत के लिये कपास ओटने के काम में आती है। महीन सूत के लिये जो कपास ओटी जाती है वह बहुत थोड़ी होती है और उसके लिये दुल्लम काठी काम में आती है। यह एक तरह का लोहे का बेलन है जो किनारों पर कुछ पतला होता है और जिस तख्ते पर बेलते हैं उसकी चौड़ाई से यह कुछ ज्यादा लंबा होता है कि हाथ या पैर से काम लेने के लिये दोनों तरफ पटरी के बाहर इसके सिरे थोड़े थोड़े निकले रहें। तख्ता या पटरी पर कपास फैला दी जाती है* और इसी बेलन से बेली जाती है। कहते हैं कि चरखी में रेशे ज्यादा कुचल जाते हैं और दुल्लम काठी से कम। इसके बाद रुई को बीज के छिलकों

---

* बारीक सूत के लिये गंजाम की कातने वालियाँ आज भी इसी से कपास ओटती हैं।

से अलगाने के लिये धुनकते हैं। इसके लिये बाँस की एक छोटी धनुही लेते हैं जिसमें ताँत या मूँगा रेशम की डोरी लगी होती है। बारीक से बारीक सूत के लिये जो रुई काम में आती है उसे धुनकने के पहले तूम लेते हैं। तूमने के लिये बावली मछली की दाढ़ की सूखी हड्डी काम में लाई जाती है। यह लगभग २ इंच व्यास की धनुही सी होती है जिसकी भीतरी तल के किनारे बहुत बारीक मुड़े हुए दाँतों की पाँती होती है। यह कंघी की तरह काम में लाई जाती है और इसमें से रुई के बारीक रेशे ही निकलते हैं। इस तरह तूम लेने के बाद धुनकी से धुन कर रुई को बहुत मुलायम मक्खन सा बना लिया जाता है। फिर उसे चीतल या कुन्चिया मछली की सूखी खाल के चिकने तल पर सावधानी से फैलाते हैं, फिर इसकी पूनियाँ बना लेते हैं और छोटे से चोंगे में रख के हाथ में पकड़कर कातते हैं। एक छोटे से बेलहरे में या छोटी टोकरी में कातने का सारा सामान रहता है। पूनियाँ, एक बहुत छोटी सी लोहे की नाजुक तकली, मिट्टी में जमाई हुई एक सुतुही और हाथ में कभी कभी मल लेने के लिये एक नन्हीं सी कूँड़ी या पथली में खड़िया मिट्टी का चूर्ण, यही चीजें रहती हैं। तकली एक साधारण मोटी सुई से ज्यादा मोटी नहीं होती।* लम्बाई में १० से लेकर १४ इंच तक होती है और उसके निचले सिरे के पास कच्ची मिट्टी का एक छोटा गोला लगा रहता है कि जिससे घूमने में काफी बोझल हो जाय। कातने वाली तकली को जरा तिरछे थामती है इस तरह कि उसका निचला सिरा सुतुही के भीतर पड़ जाता है और तब दहने हाथ के अँगूठे

---

* डाक्टर टेलर लिखते हैं कि ६० नम्बर से नीचे का मोटा सूत तकली पर नहीं कतता था बल्कि चरखे पर कता करता था।

और बिचली अँगुली के बीच में रखकर घुमाती है और साथ ही साथ बायें हाथ में लिये हुए पूनी में से एक एक धागा खींचती जाती है और घूमती हुई तकली से बटती जाती है।"

इस तरह जब कुछ थोड़ा सा सूत कत चुकता है और तकली पर चढ़ चुकता है तो फिर नरी पर चढ़ाया जाता है। लोगों का ऐसा विश्वास था कि सूखी हवा से रुई के रेशे काफी तौर से पतले और लंबे नहीं हो सकते इसलिये बारीक कताई के लिये सूखी हवा अनुकूल नहीं है। डाक्टर टेलर ने भी लिखा है कि "कताई के लिये सबसे अच्छा गरमी का दरजा ८२ है परन्तु इसके साथ साथ नमी का होना भी बहुत ज़रूरी है।" ढाके में अधिकांश स्त्रियाँ ही कातती थीं जो पौ फटने के बाद ही बैठ जाती थीं और सबेरे ९-१० बजे तक कातती थीं, फिर शाम को ३-४ बजे से लेकर कातने लगती थीं, तो घड़ी भर दिन रहते बन्द कर देती थीं। ढाके में सब जाति की स्त्रियाँ अपनी फुरसत की घड़ी सूत के कातने में ही लगाती थीं। यह बात भी मार्के की है कि महीन से महीन सूत की अच्छी से अच्छी कातने वालियाँ १८ से ३० वर्ष तक की अवस्था की स्त्रियाँ थीं।

१९. तैयार सूत की मात्रा और चोखाई के कुछ अंक

नित्य पहर डेढ़ पहर जो स्त्रियाँ महीना भर तकली पर कातती थीं बहुत महीन सूत आधा तोला से ज्यादा नहीं कात सकती थीं। घंटे में ४०—५० गज से अधिक उनका वेग न रहा होगा। इसी सूत का दाम ८) तोला लगता था। इसलिये कातने वाली सारे समय बराबर मेहनत करतीं तो महीने में ४) रु० या साल में ४८) कमा लेतीं, पर मामूली तौर से २०) से ४०) तक कमाया

करती थीं। जो सूत कतता था उसमें किसी तरह की कमी न होती थी और बड़े बड़े पारखियों की तो यह राय है कि विदेशों के कलों के कते सूत से यह हर तरह पर कहीं अच्छा होता था। दिल्ली के दरबार के लिये मलमल तैयार करने में जिस प्रमाण और बारीकी का सूत लगता था वह रत्ती पीछे में १५० से १६० हाथ तक का होता था। डा० टेलर लिखते हैं कि "सं० १९०३ में मेरे सामने एक भारतीय बुनकार एक लच्छा लाया था। वह बड़ी सावधानी से पीछे तौल लिया गया। हिसाब लगाया गया तो आध सेर में १५० मील लंबाई को पहुँचा।" इसका मतलब यह है कि ५०० नंबर से ऊपर का सूत था। बहुत संभव है कि पहले ज़माने में जब कला की दशा इतनी गिरी हुई नहीं थी ५०० से बहुत ऊँचे नंबर भी कतते रहे होंगे। ढाके के जिस कपास से यह सूत कता था उसके रेशे कुछ छोटे ही होंगे और पुतलीघर में कतने लायक बिल्कुल न होंगे। ढाके के सूत का बट भी मशीन से बने बारीक सूत के बट से अधिक भारी था। ढाके के सूत में चीमड़ापन और ताकत ज्यादा थी। "भारत के पहिरावे और कपड़ों की कारीगरी की रिपोर्ट" नाम के अपने ग्रन्थ में लिखते हुये मि० फार्ब्स वाटसन ढाके के सूत की अच्छाई पर एक बड़े पारखी का प्रमाण इस प्रकार देते हैं—

"यह सम्मति तीन बातों पर बिल्कुल पक्की है, पहली बात यह कि युरोप के कते महीन से महीन सूत से मुकाबला करने पर ढाके के सूत का व्यास कम है, दूसरी बात यह कि युरोप के सूत के मुकाबले ढाके के हर तागे में रेशों की गिनती अत्यन्त कम है। तीसरी बात यह कि ढाके के सूत को बारीकी

विशेष कर इसी बात पर अवलम्बित है कि उसमें गिनती में रेशे कम होते हैं।"

जिस जाँच के नतीजे से ऊपर की तीनों बातें निकाली गईं वह नीचे लिखी सारिणी में दी जाती हैं—

विवरण	इंच के अंशों में सूत का व्यास	इंच भर धागे में बट की गिनती
सं० १९१९ की अन्तर्राष्ट्रीय प्रदर्शिनी में फरासीसी मलमल	·००१९	६८·८
सं० १९०८ में अंग्रेजी मलमल ४४० नं० सूत की	·००१८	५६·६
विलायत के भारतीय संग्रहालय में ढाके की मलमल	·००१३३७५	११०·१
सं० १९१९ की अन्तर्राष्ट्रीय प्रदर्शिनी में ढाके की मलमल	·००१५६२५	८०·७

बट में जो अन्तर पड़ता है वह बड़े महत्व का है। इसी से पता लगता है कि मशीन पर बने हुये कपड़े से हाथ का बुना कपड़ा क्यों ज्यादा टिकाऊ होता है। यह तो सभी जानते हैं कि युरोप की मलमल पहनने के लिये बिलकुल बेकार है और हाथ की बुनी बारीक से बारीक मलमल का टिकाऊ होना एक मशहूर बात है। इंगलिस्तान या युरोप की बारीक मलमल बार बार की धुलाई सह नहीं सकती, इस बारे में देशी मलमल कहीं मज़बूत होती है। और यह तो एक पक्की बात है की ढाके के बादेबाफ्ता के मुकाबले की कोई चीज़ आज तक पच्छाहँ के अच्छे से अच्छे कल पर नहीं बन सकी है।

२०. ढाके में मलमल की बुनाई

जिस तरह ढाके में कातनेवाले अपने काम में होशियार थे उसी तरह ढाके के बुननेवाले भी अपने कार्य में कुशल थे। बुनाई में वह १२६ भिन्न भिन्न विधियों से काम लेते थे। डा० फार्ब्स वाटसन ने बहुत विस्तार से ताना तनने, पाई करने, माड़ी देने, धोने और कलप करने की विधियाँ दी हैं। ढाके के बुनकार सभी हिन्दू थे, बड़े फुरतीले थे, पतले डील-डौल के और कोमल ढाँचे के होते थे, बड़े परिश्रमी थे, लगातार मेहनत को सह सकते थे, इतना धीरज था कि थकते न थे और उनके स्पर्श और उँगलियों की अटकल अनुपम थी, तौल का उनका अन्दाजा अजीब था, छूकर वह काम को ऐसा समझते थे कि जिस तरह की बूटी वह चाहते थे, जिस तरह की बुनावट और जिस तरह के रूप की उत्तमता उनको इष्ट होती थी किसी थान में इन सब बातों में कभी कोई कमी न आती थी। शबनम के लिये जो माँड़ी काम में लाते थे उसमें हमेशा कुछ कजली मिला देते थे। बुनकार लोग छाँह में करघा चलाते थे। बरसात में सब से ज्यादा काम करते थे, आसाढ़, सावन और भादों के महीने उनके काम के लिये सब से अच्छे थे। इसका सबब शायद यह था कि नमी से सूत बहुत कम टूटते थे, गरमी के दिनों में करघे के नीचे पानी भरे छिछले बरतन भरे रहते थे। मलमल का एक थान मामूली तौर पर एक गज पनहे का २० गज लम्बा होता था। पहले, दूसरे या तीसरे दर्जे के हिसाब से उसकी बुनाई में १० से लेकर ६० दिन तक लगते थे। मलमल खासा या सरकारआली के सब से बारीक थान का आधा तैयार करने में ५ से ६ महीने लग जाते थे। बारीक चार-

खाने जरी के काम के कपड़े और रंगीन बूटियोंवाले थान बाजार में बिकने आते थे। करघे पर बुनी हुई बूटियों के जामदानी का थान ढाका के करघे की सब से कीमती चीज होती थी। उसकी एच पेच की बूटियाँ और हाथ की मृदुता और सफाई ऐसी थी कि उसे भारतीय कला का सिरमौर बना देती थी। जरी का खास काम करने वाली नीच कोटि की मुसलमान स्त्रियाँ और धोबिनें होती थीं। वह अपना काम ऐसा अच्छा करती थीं कि एक भी डोब दिखाई नहीं पड़ता था। मलमल की मरम्मत के लिये अक्सर रफूगरों से काम लिया जाता था और वह इस काम में ऐसे निपुण थे कि थान के पूरे जाल में से अकेले तागे को खींच लेते थे और सहज में उसकी जगह दूसरा डाल देते थे। बारीक मलमलों को तह करके भेजने की रीति यह थी कि बाँस के खोखले चोंगों में भर देते थे और बन्द कर देते थे और ढँकना लगा देते थे। इस तरह के खास चोंगे जिसमें मलमल खासा के थान दिल्ली भेजे जाते थे लाख से रँगे होते थे और उन पर सुनहला काम होता था। मलमल की कीमत सौ रुपये से चार सौ रुपये तक होती थी। कपड़ा इतना महीन और पारदर्शी होता था कि उनके काव्यमय काल्पनिक नाम रखे गये थे। जैसे शबनम (ओस), बाद्‌बाफ्ता (बुनी हुई वायु) आबे रवाँ, (जल-स्रोत)। शबनम इसलिये नाम पड़ा कि उसकी जाले जैसी बुनावट पड़ती हुई ओस सी थी सो यह शबनम तो तीसरे दरजे की चीज समझी जाती थी। पहले दरजे की चीज तो मलमलखासा थी जा बादशाह की खास चीज थी और दूसरे दरजे की चीज़ थी आबेरवाँ। इनके बारे में कई मनोहर कहानियाँ मशहूर हैं। कहते हैं कि एक बार नवाब अली-

वर्दी खाँ के यहाँ एक हिन्दू बुनकार ने बारीक मलमल का एक थान भूल से घास पर रख दिया था। यह नवाब के लिये लाया था। नवाब की गाय घास समझ कर उसे खा गई। इस अपराध पर नाराज होकर नवाब ने बुनकार को दण्ड दिया और शहर से बाहर निकलवा दिया। यह भी मशहूर है कि एक बार दरबार में बाद शाहज़ादी आई तो औरंगजेब उसे नंगी देख कर चौंक पड़ा और शाहजादी को नसीहत की। इस पर शाहजादी बोली कि मैं नंगी नहीं हूँ, मैं तो सात परत मलमल पहने हुए हूँ।

२१. मलमल के व्यापार का गिरना

मुगलों की रक्षा में यह कला अपनी पूर्णता के हद दरजे को पहुँच गई थी, परन्तु जब देश के बाज़ारों में विदेशी रद्दी और सस्ती मलमल बिकने लगी और इंग्लिस्तन में भारतीय मलमल पर सैकड़ा पीछे ७५) और ८०) रुपये का कर लगने लगा तब उस कला का अन्त हो गया। संवत् १५६५ में बारथीमा ने और संवत् १६५५ में फिच ने और संवत् १७२३ में टेवर्नियर ने भिन्न भिन्न अवसरों पर इस बात की गवाही दी है कि अरब, ईरान, मिश्र, पेगू, मलक्का, सुमात्रा और मध्यसागर पर के कई देशों से भारतवर्ष की मलमल का व्यापार बड़े जोरों से था और बहुत भारी था। संवत् १८२९ में मि० बोल्टस ने लिखा है कि नवाब अलीवर्दी खाँ के ज़माने में यह एक मामूली सी बात थी कि एक उस्ताद बुनकार व्यापारी के पास एक बारगी आठ आठ सौ थान मलमल बेचने को लाता था। सं० १८४४ में मि० डे ढाके के कलक्टर थे, उनका यह अंदाजा था कि ढाके का व्यापार एक करोड़ रुपये का है, जिसमें तीस चालीस

लाख रुपयों का खर्च उन कपड़ों पर है जो युरोप भेजने के लिये खरीदे जाते हैं। पहले पहल सं० १८४२ में इंगलिस्तान में मलमल तैयार हुई तो भी विलायती मलमल भारतवर्ष में कई वर्ष बाद आई, लेकिन उसके आने के समय तक भारी भारी कर लगाकर ढाके के देशावरी व्यापार का गला घोंट दिया गया था। विदेशी सूत भारतवर्ष में सं० १८७८ में पहले पहल लाया गया और उसने घर के बने ढाके वाले सूत को खतम कर दिया। हर बरस व्यापार गिरने लगा, ढाके का पतन हो गया भारत में ता विलायती लाग-डाट के लिये ज़रा भी रुकावट न थी और इंगलिस्तान में जो भारतीय माल जाता था उसके ऊपर बेअन्दाज भारी भारी कर लगाये जाते थे। इन दोनों आफ़तों ने भारत के युगों के व्यवसाय को मिट्टी में मिला दिया और जब वर्तमान शताब्दी के लगते लगते यह कारबार बैठ गया और मलमल का बनना बन्द हो गया तो फिर उठ न सका। निर्यात के अंक आप ही इसकी गवाही देते हैं—

सम्वत्	रुपयों में कीमत
१८६४	८६१८१८॥)५
१८६७	५५६९९६)
१८७०	३३८११४॥।)८
१८७४	१५२४९७४-)९
१८७८	१२१६२५२)५
१८८२	६२९१८३।)३
१८८६	५०४८१२॥।)
१८८८	३६२७४७।-)
१८९१	३८७१२२)

सं० १८९७ में निर्यात व्यापार प्रायः बन्द ही हो गया। भारतवर्ष में ही घर की खपत ढीली हो गई और कभी कभी फर्माइश पर जो थान बन जाते थे उस के सिवाय कोई थोक माल तैयार नहीं होता था। पहले तो यह दस्तूर था कि बुनकार अपने मन से माल तैयार करता था और नफे के साथ सौदागरों को बेचता था, परन्तु अब दशा बिल्कुल बदल गई थी; यहाँ तक कि सं० १९०७ में जब खास फ़र्माइश दी जाती थी और जब पेशगी रकम मिल जाती थी, तब बुनकार काम करना मंजूर करते थे।

२२. भावों में भारी भेद

देशी और विलायती माल के भावों में इतना भारी भेद था कि उसमें चूक नहीं हो सकती थी। १८० नंबर के सूत में तो देशी माल का भाव विदेशी भाव से चौगुना और पँचगुना पड़ जाता था, देशी माल को विलायती लाग-डाट से कितना नुकसान उठाना पड़ता था इस बात को समझने के लिये सं० १८९७ के भावों का मुकाबला करना चाहिये।

सूत का नंबर	रुपयों में सूत की तौल	डेढ़ अट्टियों की कीमत	
		अंग्रेजी	हिन्दुस्तानी
२००	१)	≡)	|||)
१९०	१)|||=	=)|||	||=)
१८०	१−)|||	=)|||	|=)
१७०	१=)|||	=)||	|−)
१६०	१|)	=)||	|)
१५०	१=)|||	=)||	≡)||

सं० १८९७ के बाद ३० से लेकर २०० नंबर के अंग्रेजी सूत ने ढाके के बाज़ार का इज़ारा अपने हाथ में कर लिया और वहाँ देशी कताई का माल जो बँचा-खुचा था ३० नंबर के नीचे का रह गया। इस तरह ३० बरस के भीतर ही इंगलिस्तान से ढाके का वह व्यापार जो ३० लाख के लगभग का था खतम हो गया और उस ज़िले के हर परिवार का रोज़गार सूत की कताई बन्द हो गई। ५० बरस के भीतर ही कताई-बुनाई की वह कलायें जिनसे अनगिनत व्यवसायी आबादी को काम मिलता था ऐसे हाथों में चली गईं जो न केवल विदेशी जातियों को माल देने लगे बल्कि भारतवर्ष को भी कपड़े पहनाने लगे। डा० टेलर इसके गवाह हैं। पच्छाहँ की सस्ती मलमल ने ढाके की अनमोल कला को मिट्टी में मिला दिया, उसकी रक्षा करने के लिये एक उँगली भी न उठाई गई। मुलम्मे के सामने सोने का आदर जाता रहा। ढाके का प्रताप मिट गया। सं० १८५७ में उस शहर की आबादी दो लाख से कम न थी, वही ४० बरस बाद गिर कर केवल अस्सी हज़ार रह गई। बुनकार आदि कपड़े के कारबारी खेती आदि दूसरे रोज़गारों में लग गये। और जब पार्लियामेन्ट की चुनी हुई कमेटी के सामने गवाही देते हुये सर चार्ल्स ट्रिविलियन ने इस करुणाजनक घटना की ओर ध्यान दिलाया तो इस अनोखी कला को फिर से जिलाने के लिये कुछ भी न किया गया। मनुष्य की अँगुलियों का वह मृदुल स्पर्श और सौन्दर्य का वह अद्‌भुत संस्कार जो ढाके की मलमल का सहगामी था, उसी व्यवसाय के साथ साथ भूत काल के अन्धकार में लुप्त हो गया।

दूसरा अध्याय

हाथ की कताई-बुनाई की बरबादी

१ किस लालच से अंग्रेज भारत में आये

अंग्रेजों के आने के पहले और उनके आने के डेढ़ शताब्दी पीछे भी सूती माल के नाते तो भारतवर्ष के हाथों में एक तरह से संसार भरके बाज़ार थे, परन्तु देश की इस कोमल कला को आर्थिक कूटनीति और लूट की भारी भुजा ने दबा लिया, युगों के ठोस उद्योग और रोजगार को कुचल डाला, और देश को विदेशी कपड़ों के सबसे बड़े मुहताज की दशा को पहुँचा दिया। जिस प्रलयकारी फेरफार से सब से बड़ा बेचने वाला बदल कर सब से बड़ा खरीदने वाला हो गया। सब से बड़ा संसार को पहनाने वाला उलट कर विदेशों से मँगा कर सब से बड़ा पहनने वाला हो गया, हम उसी दुर्घघटना की व्याख्या यहाँ करना चाहते हैं। हम अभी बतला चुके हैं कि भारत की दस्तकारी के व्यापार में बेहद गुंजाइश देख कर ही फिरंगी जातियाँ भारत में आयीं। क्यों कि उस समय युरोप महाद्वीप या विलायत में कहीं भी नाम लेने लायक कोई दस्तकारी न थी जिसका वह भारत में व्यापार करते। भारतीय द्वीपों से मसाले और भारत से सूत और सूती माल दोनों से बड़ा मुनाफ़ा उठता था और बारी बारी से पुर्तगाल, डच फरासीसी और अँगरेज एक के बाद दूसरी जाति यहाँ के भारी व्यापार को हथियाने के लिये आपस में भिड़ते रहे। पूरबी बाजारों पर अपना अपना राज रखने के लिये अनेक युद्ध हुए। इनमें सब से अन्त में अंग्रेजों की ही जीत हुई। उन्होंने और जातियों को खदेड़

दिया और सब कुछ अपने हाथों में कर लिया। यह झगड़े का इतिहास ईस्ट इण्डिया कम्पनी के इतिहास का मध्य बिन्दु है। यह कम्पनी रानी एलिजवेथ के फरमान पर संवत् १६५७ में बनी थी परन्तु भारत की भूमि पर इसकी कोठियाँ दस बरस से ले कर चालीस बरस बाद तक में बनीं, मछलीपटनम् में १६६७ में, सूरत में १६६९ में, मद्रास में १६९६ में और हुगली में १६९७ में। पहली कोठी के बन जाने पर सूती माल सीधे इंग्लिस्तान में पहुँचने लगा। इससे पहले इंग्लिस्तान की जो कुछ माँग भारतीय मलमल और सूती माल के लिये होती थी वह दूसरे देशों से हो कर बड़े फेरफार की राह से पूरी हो पाती थी। परन्तु यह माल इतना अच्छा था कि इसकी मांग जोरों से बढ़ी और व्यापार तेज हो चला। डच लोगों ने भारत में घुस कर कारामंडल के किनारे एक ओर कोठियां बनायीं और दूसरी ओर सूरत की राह से घुस कर सूती माल की खरीद करने लगे। इस तरह डचों ने औरों को भी राह दिखायी। डाक्टर मोरलैंड ने नीचे लिखी सारिणी में संवत् १६८२ से कई साल आगे तक का उस माल का विवरण दिया है जो डच लोग भारत से बटेविया को ले जाया करते थे। इस विवरण से जान पड़ता है कि व्यापार कैसी तेज़ी से बढ़ रहा था।

साल	कारामंडल	बंगाल	गुजरात	कुल
१६८२ में	१७०० गांठें	...	८०० गांठें	२५०० गांठें
१६९८-१७०१ तक प्रतिवर्ष	२५०० ,,	...	१००० ,,	३५०० ,,
१७१४-१८ तक प्रतिवर्ष	४००० ,,	५०० गांठें	१२०० ,,	५७०० ,,

एक जहाज जो सूरत से जावा को ओर चला था उसको लड़ाई

के बीजक में सूती माल पूरी तीस जगहों में अलग अलग चढ़ाया गया था। मँगानेवाले देशों में सूती माल की कितनी चाह थी इस बात की जरासी अटकल इससे मिलती है कि फास्टर ने जो English Factories (अंग्रेजी कारखाने) नाम की पोथी कई जिल्दों में लिखी है उसमें लगभग डेढ़ सौ तरह के सूती माल का उल्लेख है। उन सब को वर्ण-क्रम-सूची में दिखाया है और यह लिखा है कि इनमें से हर एक की जबर्दस्त मांग थी। पहले इंग्लिस्तान के लोग भारत को सोना भेजने में कुछ हिचकते थे। सर टामस रो ने ईस्ट इंडिया कम्पनी के डैरेक्टरों से कहा कि भारतीय माल की मांग तो इंग्लिस्तान में बहुत कम है इसलिये अच्छा होगा कि कम्पनी अपना सूती व्यापार अधिकांश एशिया और अफ्रिका से ही रखे। पर सर टामस रो की बात जल्दी ही भूठ ठहर गयी, क्योंकि भारतीय माल की मांग बराबर तेज़ी से बढ़ती गयी। गुजरात, कारामंडल का किनारा और बंगाल, एक के बाद दूसरे बाजार को हथियाया गया। कारामंडल से तो सबसे अधिक लाभ दीखा और डचों को तरह अंग्रेज भी बहुत बरसों तक यहीं जमे रहे। सूरत से भी सूती माल का चालान बराबर बढ़ता ही गया। संवत् १६७१ में साढ़े बारह हजार थान भेजे गये और १६८२ में एक लाख पैंसठ हजार थान रवाना हुए। १६७५ में "रायल अन्न" जहाज से केवल चौदह हजार थान गये परन्तु छः बरस पीछे उसका पन्द्रह गुना माल मँगवाया गया। संवत् १६७१ में केवल साड़े सात हजार रुपयों का सूत भेजा गया परन्तु उसकी माँग ऐसी तेज़ी से बढ़ी कि कम्पनी के नौकरों से कहा गया कि अगर तय्यार माल न मिल सके तो अटेरा, परेता या सादे लच्छों में भी जैसा ही सूत मिले

वैसा ही सूत लेकर भेजे। संवत् १७८५ में सूत की ५२८ गाँठें इंग्लिस्तान को भेजी गयीं।

कम्पनी के डैरेक्टरों ने लिखा कि "सूत के यहाँ बिकने से यहाँ के बाजार के ठस जाने का डर नहीं है, क्योंकि भारत से जितना माल यहाँ बिकने को आवे उतना ही थोड़ा है।" जान पड़ता है कि सूत का विदेशों में इस तरह चालान होने से भारत वर्ष में उसका भाव चढ़ गया और बुनकारों की इसमें हानि हुई। नौबत यहाँ तक पहुँची कि सूरत और भड़ौच में तो बुनकारों ने कहा कि जब तक सूत का चालान बन्द न किया जायगा तब तक हम कपड़े न बेचेंगे। संवत् १६८४ से १६९७ तक भारतीय सूती कपड़ों की आमद विलायत में बहुत बढ़ती गयी। एक बरस में कम से कम पचास हजार थानों में तो कोई कसर न थी। हमारे देश में तो उनका औसत दाम साढ़े तीन रुपये थान पड़ता था, परन्तु विलायत में जाकर वही चीज़ दस रुपये थान बिकती थी। इस तरह मुनाफ़ा बहुत ज्यादा था। इसी समय के लगभग जब भारत से व्यापार करने के विरुद्ध कुछ आपत्तियाँ की गयीं तो ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने बड़े जोश से यह जवाब दिया कि इंग्लिस्तान पहले हरसाल हालैंड और फ्रांस को ओलंदेजी पटसन, छालटी, फरासीसी आदि के लिये पचहत्तर लाख रुपये दिया करता था, पर आज भारतीय माल ने उन चीज़ों की जगह ले ली है, बल्कि वही देश इंग्लिस्तान से भारतीय माल खरीद कर अब पचहत्तर लाख रुपये इंग्लिस्तान को दे रहे हैं। इस घटना के तीस बरस बाद भी यह रोजगार तेज ही था, क्योंकि सं० १७०८ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के डैरेक्टरों ने सूचना दी कि भारत से आने

वाले माल में बारीक सूती कपड़ों की ही चाह सबसे ज्यादा है।

२—भारी मुनाफे और उसपर हो हल्ला

भारत की दस्तकारी ने अंग्रेज पहननेवालों की पसन्द को बदल दिया था। इसीलिये भारतीय माल की माँग एक तार बढ़ती चली जाती थी। यहाँ तक कि कम्पनी का व्यापार बहुत भारी हो गया और जब सब किसी ने देखा कि यह रोजगार बहुत नफे का है, तो और लोग भी निजी तौर से इसी व्यापार में लग गये और वैसे ही भारी नफे वह भी उठाने लगे। इतिहासकार कहता है कि "इङ्गलिस्तान के राज्य के पुनः स्थापन के पहले शायद ही किसी टेम्स के जहाज ने गंगा के मुहाने के दर्शन किये हों। परन्तु पुनः स्थापन के पीछे चौबीस बरसों के भीतर टेम्स के किनारे के आबाद और समृद्ध जिलों से भारत से आनेवाले सूती माल की कीमत साल में एक लाख बीस हजार से बढ़कर पैंतालीस लाख रुपये तक पहुँची। नफा इतना ज्यादा हुआ कि संवत् १७३२ में कम्पनी के हर मालिक को जितना उसका माल था उसी के बराबर माल उसे इनाम मिला और पाँच-बरसी मुनाफा बीस रुपया सैकड़ा सालाना भी मिला।" यह बात धन-लोलुपों की राल टपकाने को काफी थी। उन्होंने नयी कम्पनियाँ बनायीं, चढ़ा-ऊपरी करनेवाली व्यापार-यात्राएँ चली, और आपस में मिलकर षड़यंत्र रचा कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी को किसी तरह निकाल बाहर करना चाहिये। इंग्लिस्तान में रोजगारी चढ़ा-ऊपरी और आपस की ईर्षा से जितने झगड़े हुए उन सब का वर्णन करना हमें इष्ट नहीं है, पर हम इतना कह देना काफी समझते हैं कि विक्रम की अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध के आरम्भ तक इंङ्गलिस्तान की सभी व्यापारी

कम्पनियों के भेदभाव मिट चुके थे, बल्कि सभी कम्पनियाँ ईस्ट इंडिया कम्पनी में मिल गयी थीं, जिसका फल यह हुआ कि ईस्ट इंडिया कम्पनी का भारत के व्यापार पर पूरा इजारा बना रहा। प्राय: उसी घड़ी भारतीय सूती माल की चाह इंग्लिस्तान में सबसे ज्यादा बढ़ी चढ़ी थी। संवत् १७३४ में विलायत में भारतीय सूती कपड़ों की वार्षिक खरीदारी दो लाख चालीस हजार तक कूती गयी थी और १७३८ में पार्लियामेंट में यह कहा गया था कि भारतीय माल की खरीद में जिसमें छपे, रँगे और बारीक कपड़े, जो पहनने, ओढ़ने, बिछाने परदे आदि के बनाने के काम आते थे, लगभग पैंतालीस लाख रुपये सालाना खर्च होते थे। सम्वत् १७३०-३५ के पाँच बरसों में जहाँ उन्तालीस लाख साढ़े तीन हजार थान भारत से विलायत में खपे, वहाँ सम्वत् १७३७-४० तक के तीन ही बरसों में पचासी लाख चौंसठ हजार थान भारत से विलायत में जाकर बिक गये। यह दोनों अंक साफ़ जाहिर करते हैं कि कितनी तेजी से यह व्यापार बढ़ता जा रहा था। इस हिसाब से साल भर का औसत बीस लाख थान से ऊपर ही पड़ा। साथ ही यह भी याद रहे कि थान पीछे नव आने से लेकर डेढ़ रुपया तक महसूल भी लगता था।* इतनी बाधा पर भी भारत के माल की बिक्री बढ़ती ही गयी। ऐसी बढ़ती देखकर वहाँ के ऊनी दस्तकार इस व्यापार से बेहद जलते थे। उन्होंने भारतीय सूती और रेशमी माल के विरुद्ध बड़ा होहल्ला मचाया। पार्लियामेंट में दर्ख्वास्तें पड़ीं कि भारतीय रेशमी माल का पहिनना कानून से रोक दिया जाय।

---

* विलायत में भारतीय माल की आमद का वेग रोकने के लिये टनेज और पौंडेज एक्ट नामक कानून से पार्लिमेंट ने भारी बाधक कर लगा रखे थे।

सूती और रेशमी माल की आमद पर भारी से भारी कर लगाये गये। संवत् १७४२ में भारतीय सूती माल और भारतीय कामदार रेशम और सूत, पट, पाट आदि के अलग अलग या मिले जुले बने माल पर जो भारत से इंग्लिस्तान में जाता था दस रुपये सैकड़े कर लगाया गया। सं० १७५७ में यह कर दूना कर दिया गया। इन बाधाओं के होते हुए भी इंग्लिस्तान में भारतीय रेशमी और सूती कपड़े साधारण पहिरावा हो गये। अपने इंग्लिस्तान के इतिहास में लेकी लिखता है कि सं० १७४५ की राज्य-क्रान्ति के पीछे जब रानी मेरी अपने पति के साथ इंग्लिस्तान में आयी, तो भारतीय रंगीन छपी मलमलों का बेहद शौक़ अपने साथ लायी, जिसका फल यह हुआ कि सभी वर्ग की प्रजाओं में इसकी चाट बात की बात में बढ़ गयी। यार्कशहर, विल्टशहर, नारिच और स्पिटलफील्ड के व्यापारियों और पूंजीवालों ने घोर विरोध में बड़ा हल्ला मचाया। मेकाले ने अपने इंग्लिस्तान के इतिहास में आलंकारिक भाषा में उनके मामले को संक्षेप में यों समझाया है—

"वह कहते थे कि हमारे दस्तकार शहरियों और पशु पालक किसानों के लिये तब बड़े चैन के दिन थे जब हर एक घोघी, हर एक सदरी, हर एक बिछौना हमारी ही भेड़ों के रोएं का हमारे ही करघों पर का बना होता था। रानी एलिज़बेथ के राज के महलों की भींतों को सजानेवाले पुराने परदों का आज कहीं पता निशान नहीं है। जिन भलेमानसों के बाप दादों ने अंग्रेज़ी ऊन के अँग्रेज़ी हाथों से बने कपड़ों के सिवा और कोई चीज छूई न थी, उन्हें ही आज मुर्शिदाबाद की रेशमी जुर्राबों और विदेशी कपड़ों के बने कोट पतलून

पहने अकड़ते चलते देख किस देशप्रेमी का सिर नीचा नहीं हो जाता" ?

इसी तरह का हल्ला "नंगा सत्य" नाम की एक पुस्तिका ने भी मचाया था जो संवत् १७५३ में प्रकाशित हुई थी। उसमें कम्पनी के मलमल आदि के व्यापार के लोभ की शिकायत थी और कुछ निन्दा और कुछ रोष भरे उद्गार थे। उसमें लिखा था "फैशन को जो डायन कहते हैं सो बिल्कुल सच है। चीज़ जितनी ही महँगी और दुर्लभ हो उतनी ही उसकी चाट होती है। साढ़े बाईस रुपये में एक गज मलमल खरीदिये, तो क्या देखते हैं कि हमने कोई चीज नहीं खरीदी बल्कि चीज की छाया भर ली है।" इस पुस्तिका के छपने के कुछ ही बरस पहले पार्लियामेन्ट ने एक कानून बनाया था कि मुरदे को विलायती ऊनी कफन के सिवा और कोई कफन न दिया जाया करे। उस पुस्तिका में इस प्रसंग में लिखा था कि "देश में ऐसे सच्चे कपड़े-वालों की कमी नहीं है जिनको अब भी भरोसा है कि जिन्दों के लिये भी ऐसा ही कानून बनेगा"। वहाँ के देशी व्यापारियों के क्रोध का पारा चढ़ा हुआ था। डेनिएल डीफो ने उसका अच्छा चित्र खींचा है—

"जनता में भारतीय माल की चाट की हद हो गयी। जो छींटें और छपे कपड़े जाजिम, लिहाफ आदि बनाने और बच्चों और साधारण लोगों के पहनने के काम में आते थे वह हमारे बड़े घरवालियों की पोशाक बन गये। चलन में इतनी बड़ी ताक़त है कि जिन जातियों के कपड़े कुछ बरस पहले मजूरिनें भी अपने पहनने लायक न समझतीं आज ऐसी चाल पड़ गयी कि भारी लोग उसकी पोशाक पहनने लगे। छींट ने फ़र्श

पर से तरक्की करके पीठ पर चढ़ी लगायी, पाँव के नीचे से उठकर कुरती के रूप में बदन में लपट गयी, यहाँ तक कि खुद रानी इस समय चीन और जापान में (चीनी रेशम और जापानी कपड़ों में) लसी हुई थीं। इतना ही नहीं, भारतीय कपड़े गुप्तघरों, शयनागारों तक में पैठ गये। परदे, गद्दे और कुरसियों तक में घुस गये, अन्त में ओढ़ना बिछौना तक भारतीय नयनसुखों के सिवा और कुछ न रहा। निदान, जिन वस्तुओं से नारियों के पहरने या घरद्वार के सजाने का सम्बन्ध था उन सभी वस्तुओं में ऊन और रेशम का स्थान भारतीय सूत ने ले लिया। जितना कुछ माल भारत से खरीदा जाता है, छः में पांच भाग तो हमारे ही दामों से बनता है और यद्यपि यह दूर बाहर से लाया जाता है और बड़े मुनाफे से बेचा जाता है तो भी हमारे सस्ते से सस्ते माल से भी सस्ता पड़ता है।"

सस्ता इतना था कि विश्वास न होता था। टिकाऊ भी वेहद था। इन्हीं दो कारणों से भारतीय माल ने इंग्लिस्तान के बाजार पर अपना इजारा कर लिया था। इंग्लिस्तान के दस्तकारों का गुस्सा अब दब नहीं सकता था। यहाँ तक कि कोलचेस्टर में एक दिन भयानक बलवा हो गया। डीफो का कहना है कि इस बलवे में भारतीय कपड़े पहननेवाली नारियों पर बलवाई भीड़ टूट पड़ी और उनका अपमान किया। भारतीय माल के विरुद्ध जो आन्दोलन खड़ा हुआ उस पर पार्लियामेण्ट ने तुरन्त कार्रवाई की। सं० १७५७ तक में तरह तरह के कानून बनाकर इंग्लिस्तान, स्काटलेण्ड और वेलस में भारतीय कपड़ों का पहनना बन्द कर दिया।

३. बाधक नीति

सं० १७५७ में एक कानून* बना कि भारतसे छपे कपड़े न लाये जायँ। इससे सादे कपड़े इंग्लिस्तान में छपने के लिये आने लगे। यह तो अनिवार्य परिणाम था। अब छपाई इंग्लिस्तान में होने लगी। पर सं० १७७८ में यह भी बन्द हो गया। एक कानून बना† जिससे छपे कपड़ों का पहनना या इस्तेमाल रोक दिया गया। हर पहननेवाले पर हर बार पहनने के अपराध पर ७५) ७५) जुरमाना होता था और जो कोई जितनी बार बेचता उतनी बार ३००) जुरमाना देता था। सोलह बरस बाद शुद्ध सूत के छपे माल के इस्तेमाल की मनाही हो गयी और पहले ही जो मिले जुले माल की मनाही थी वह तो उठायी ही गयी। इन सब बातों के होते भी भारतीय कपड़ों का प्रचार चलता ही रहा क्योंकि स्त्रियों को फैशन की खराब चाट बेतरह लग गयी थी और दबायी नहीं जा सकती थी। सं० १८३१ में पार्लियामेंट ने यह कानून‡ बनाया कि इंग्लिस्तान में जो सूती माल बिके वह सबका सब इंग्लिस्तान में ही कता और बुना हो। बाहर भेजने के सिवाय और किसी मतलब से भारत का बना माल इंग्लिस्तान में आने की आज्ञा न थी। इन बाधक कानूनों ने बहुत भारी और चूसनेवाले दंड लगा रखे थे। इन सब कानूनों का भीतरी मतलब तो साफ़ था। सबका मनशा यही था कि भारतीय व्यापार इंग्लिस्तान में

---

* William III, Chapter X, Act 11 and 12.

† George I. Chap. 1.

‡ George III. Chap. 72.

अंग्रेजी व्यापार की होड़ न कर सकें। अंग्रेज यही चाहते थे कि भारतीय व्यापार का गला घोंट दिया जाय। अभी आगे चलकर हम यह देखेंगे कि सादे नयनसुख और मलमलों के प्रकार में से जो इन बाधाओं से बच रहे थे उनपर अत्यन्त भारी और असह्य कर लगाये गये।

४. अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी की स्थिति

इन करों की जाँच करने के पहले अठारहवीं के उत्तरार्ध से उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध तक भारत में अंग्रेजी व्यापार और शासन की दशा का दिग्दर्शन आवश्यक है। इस काल के आरम्भ में नयनसुखों की आमद विलायत में इस प्रकार थी—

वर्ष	कितना नयनसुख आया
सं० १७५६	८,५३, ०३४ थान
सं० १७५७	९,५१, १०९ थान
सं० १७५८	८,२६, १०१ थान

इस लाभकर व्यापार से इंग्लिस्तान को बड़ा लाभ हुआ। ज्यों ज्यों समय बीतता गया वहाँ भारतीय माल की आमद पर बड़ी कष्टदायक बाधाएं लगती गयीं और सं० १८३७ से लेकर सं० १८४९ तक इन्हीं विकट बाधाओं के काल में ईस्ट इंडिया कम्पनी जो माल बाहर ले जाती थी उसमें जहाँ सोना चाँदी की मालियत रु० ६६, ३५, ७००) वार्षिक औसत की और दूसरी चीजों की मालियत रु० १३, ८३, ४२०) वार्षिक औसत की थी वहाँ विलायत में आनेवाले माल की—जिसमें विशेष रूप से भारतीय नयनसुख और दूसरे कपड़े और कच्चा रेशम ही था,—

रकम रु० १, १३, ७०, ६३०) के औसत तक पहुँची थी। ईस्ट इंडिया कम्पनी जो माल भारत में बेंचा करती थी उनकी कीमत नगण्य होती थी। हाँ, वह बड़ी सफलता से सूत और रेशम का माल बाहर के बाजारों में बेचने के लिये भारत में खरीदा करती थी। बंगाल, मद्रास और सूरत से चालान किये हुए कपड़े के थान की जो बिक्री कम्पनी ने सं० १८३१ से सं० १८४९ तक की उनके अंक समझने लायक हैं। वे पृ० ६७ पर दिये जाते हैं।

व्यापार तेजी से बढ़ा परन्तु राज और प्रभुता की लालसा उससे भी ज्यादा तेजी से बढ़ी। संवत् १८०२ के अन्त तक भारत में कम्पनी ने बहुत थोड़ी मिल्कियत पैदा की थी और उनकी हैसियत एक व्यापारी समाज मात्र की थी। उनमें ऐसे लोग भी थे जिनके मन में राजनीतिक अभिलाषा बहुत थी। वह लोग व्यापारी झगड़ों में कम्पनी को फँसा देते थे और उसका बहुत सा नुकसान भी करा देते थे। जैसे संवत् १७४७ में बम्बई के गवर्नर चाइल्ड के नेतृत्व में कम्पनी की बहुत कुछ हानि हुई थी। कम्पनी की असली हालत का पता कोठियों के कर्त्ताओं के नाम से लगता है। "माननीय" गुमाश्ता और गवर्नर जो कौंसिल का अगुवा मेम्बर था, केवल ३७५) रु० मासिक पाता था। उसके नीचे "मुनीब" था फिर "भंडारी" था और उसके नीचे "फेरीवाला" था। कौंसिल के सभी मेम्बर "बड़े सौदागर" कहलाते थे। उनके नीचे जो कम्पेनी की नौकरी करते थे "मुहर्रिर या उम्मेदवार" कहलाते थे। सबके सब व्यापारी कम्पनी के अंग थे। पर इन व्यापारियों में हद दरजे का लालच था। कम्पनी ही नहीं बल्कि कम्पनी का हर एक नौकर अपना अपना कोई न कोई रोज़गार कर

वि. संवत्	बंगाल के थान		मद्रास के थान		सूरत के थान		जोड़	
	थान	बिक्री गिन्नियों में	थान	बिक्री गिन्नियों में	थान	बिक्री गिन्नियों में	थान	बिक्री गिन्नियों में
१८२८	६०४५७९	१०७३८४१	११४७१०	२६१८९३	१३११९८	९११३००	८५०६६५	१४२७०३४
१८२९	६२६११६०	१०३५६८६	२७३७६६	५२३०९४	१४७०२९	८७१७६	१०४६९५५	१०४५९५६
१८३०	७६१४८९	१२२४४६७	१३४७८९	५०५५३३	५८१३८	६५२३१	९५४४१६	१७९५२३१
१८३१	६१६२२६	११०५२३०	२०७०८६	६४४५६३	३८३६६	५४७८८	८६१६७८	१८०४५९१
१८३२	५१७७६१	९६०२२४	१८१९५०	५८३७६५	४७४०५	६२३५५	७४७१६६	१६०६३६४
१८३३	६०७८७८	१०९०७३४	२०९५३८	५१५५५७	१८८२२	१३३०८	८३६२३८	१६११९६०९
१८३४	६५५३३२	१११४७३४	२२४१८३	४९३९२६	८३०२४	४८४६८	९६२५३९	१६५६१२८
१८३५	८०५०१०	११९४६१३	२९६१८२	४२२२१३	६१२८५	३२२०७	११६२४४७	१६४९०३३
१८३६	३३८४६५	५२४६३६	७४६७६	२०३१८६	३१५२५	१३२३०	४४४६६६	७४१०५२
१८३७	४७४७०३	९८४७६३	१७०१३०	२५७६२६	१८६०५	११३४९	६००४३८	१२५३७३८
१८३८	३०१६१७	५८२११६	९५८८८	२३३६४३	३३१४४	२३१२९	४३०६२९	८३८८८८
१८३९	४४६४८८	१०३३५५७	७२१८८	२०४१६३	३६५९७	२९४०३	५६५२७३	१२६७१२३
१८४०	४३७८०२	१०४९२२४	—	—	८२९६६	७९९४४	५२०७६८	११२९१६८
१८४१	५१६०८८	९०८३७०	४४८१०	११६८८३	३१११३०	२२६०७	५९२०२८	१०४७८६०
१८४२	७६८२८८	१४२६२५९	४५३५२	११५६३२	२६७६७	१८६९३	८४०३४७	१५६०८४७
१८४३	७६४१७३	१४५८४१६	४३२४०	९७५११	—	—	८०७४१३	१५५५९२७
१८४४	७४५४४९	११३७९३४	३८६४१	८४५९८	४१८२२	२८५६०	८२५९७२	१४३१०९२
१८४५	५९४७२८	९७८५०७	९६४५५	११९१८२६	४१८०६	२९९३७	७३२९८९	१२००२७०
१८४६	६१४८३९	९४३०९६	११२२१६	२२५१६९	४४७१५	३३३५७	७७१७७०	१२०१६२२
१८४७	८६६२८२	१४८५०८०	१२६२२१	२५३६२५	३३१३१	९६३९	१०२५६३४	१७४८३४४
१८४८	७०९५४०	११३१७१७	१४४९९६	४७५५९०	५७०८०	४४३८०	९११६१५	१६५१६८७
१८४९	६०७३२९	११९४८७५	२४०१०८	५७७४००	२५९१०	२१०५०	८७३३४७	१७९३६२५
जोड़	१३३८०३४४	२३८१८७०२	२८८४१०५	६९८६३९६	१०९०५२५	८२०३९१	१७३५४९७४	३११२४८८९

लेता था और कम्पनी के नाम से माल निकाल ले जाया करता था और महसूल मार लेता था। उस समय कम्पनी की नौकरी में विलायत में या भारत में शायद ही कोई ईमान्दार लोकहित का भाव रखने वाला आदमी रहा होगा। जो लोग कम्पनी की नौकरी में थे उनके मन में एक ही उद्देश्य जँचता था और वह यह था कि भली बुरी चाहे जिस किसी विधि से हो, धन बटोरना चाहिये। कलकत्ते में "मेअर" (चौधरी) की कचहरी का आल्डरमेन (मुखिया) एक आदमी बोल्ट्स था, जो कई साल से कम्पनी में नौकर था। वह कम्पनी के हाकिमों की ईमान्दारी के ऊपर संवत् १७७९ में यों जली कटी सुनाता है—

"इतना तो ईमान्दारी के साथ कहा जा सकता है. कि चाहे इंगलिस्तान में हों और चाहे हिन्दुस्तान में, कम्पनी के भाग्य-विधाताओं में लोकहित का भाव कहीं दिखाई नहीं पड़ता। सब से भारी उद्देश्य और एक ही उद्देश्य स्वार्थ दिखाई पड़ता है। महासागर के दोनों किनारों पर कम्पनी के सरदारों में हाल में यही प्रश्न तय किये गये हैं, कि अपने अधीन देशों के दरिद्र रहनेवालों से धन चूसकर कितने लाख रुपये मैं अपने जेब में भर सकूँगा। या कितने बेटे भतीजे और नातेदारों को मालदार कर सकूँगा। बात यह है कि जिस तरह से रोम साम्राज्य की गिरती हुई दशा में दूर दूर के प्रान्तों का हाल हुआ था उसी तरह एशिया के अपने मातहत देश उन लोगों के हाथ में छोड़ दिये गये हैं जो दूर बैठे अपनी जेब गरम करने के लिये उचित उपाय सोचा करते हैं। नौबत यहाँ तक पहुँची कि बहुतेरे सरकारी नौकर कम्पनी के सिलसिले से भारत गये हैं, वहाँ के लोगों पर वह वह अत्याचार किये हैं जिसका जोड़ इतिहास में नहीं है। वही

धन से लदे इंग्लिस्तान को लौटे हैं, जमीदारियाँ ली हैं या कम्पनी में हिस्से लिये हैं, और वहाँ अपना प्रभाव जमाकर कभी देश के हित की और कभी निरपराधों पर अत्याचार की दुहाई देकर उन्होंने न्याय का बड़ी ढिठाई से अपमान किया है।"

५. अत्याचार और कुशासन

अत्याचार और कुशासन हर जगह बढ़ रहा था। अंग्रेज कोठीवालों का हर नौकर वही अधिकार रखता था जो मालिक का था। और कोठीवालों के तो कम्पनी के ही अधिकार थे। दस्तकारों को लाचार किया जाता था कि महँगा खरीदें और सस्ता बेचें और उसपर भी बेकानूनी दंड उन पर लाद दिये जाते थे। कम्पनी का हर अदना सा नौकर लाट का सा रोब गाँठता था और कारबार के नियमों की ज़रा भी परवाह न करके बेईमानी के रोजगार से गहरा मुनाफा कमाकर धनवान बन रहा था। उस समय की दशा पर लिखते हुए मेकाले का कहना है—

"कम्पनी के नौकर का एक ही काम था कि भले बुरे किसी रोज़गार से दस बीस लाख रुपये निचोड़ ले और भारत की गर्मी से अपने स्वास्थ्य को बिगाड़ने के पहले विलायत में लौट आवे और किसी लाट की बेटी से ब्याह कर ले या कार्नवाल में कोई सड़ी जमींदारी खरीद ले या सेन्ट जेम्स स्कायर में नाच मुजरा करावे।"

ईमान को ताक पर रख कर रोज़गार करने की धूम थी। घूस और ज़बरदस्ती बखशीश और तंग करके दस्तूरी लेना उन दिनों की चाल हो गयी थी। इसका एक उदाहरण लीजिये। जब संवत् १८१४ में मीरजाफर नवाब बनाये गये तब छोटे से

लेकर बड़े तक यहां तक कि बंगाल के शासक कौंसिल के मेम्बरों ने भी अपना अपना हक वसूल किया। इस अवसर पर कोई न चूका। यह रकम ४,०६,६६,२५०) रुपयों तक पहुँची जिसकी बेबाकी के लिये न तो पूरा रुपया रह गया था, न सोना चांदी। इसलिये एक तिहाई रकम के बदले ज़ेवर और रकाबियाँ ले ली गयीं। जो दशा बंगाल की थी, प्रायः वैसी ही दशा करनाटक में भी थी। आरकट के भोलेभाले नवाब बनावटी ऋणों के बलिदान हो गये। पाल बेन्फील्ड कम्पनी का एक अदना सा नौकर था। उसने तंजोर की सारी मालगुजारी अपने नाम करा देने के लिये दावा किया। यह बात तो मशहूर है। इसपर अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है। छल और अत्याचार साथ ही चलते थे। हम इसी ज़माने के इतिहास की ओर पाठकों का ध्यान दिलाते हैं कि देखें उस समय हमारे देश के बुनकारों और दस्तकारों की क्या हालत हुई।

६. इजारे के बल से शासन

इजारे की पद्धतियों में जो सब से भयानक थी उसी के शासन के सब से कड़वे फल भारत को चखने पड़े। भारतवर्ष की आमदनी से कम्पनी करोड़ों रुपये का माल युरोप में खरीदा करती थी और जहाज़ पर वह माल इंगलिस्तान में नफ़े पर बिकने के लिये जाता था जिससे कम्पनी के नौकरों को वेतन दिया जाता था, हिस्सेदारों को मुनाफ़ा और सूद चुकाया जाता था और भारत में लड़ी हुई, व्यापार और राजकीय लड़ाइयों के खर्च का ऋण चुकाया जाता था। इसी को कम्पनीवाले अपनी लगायी हुई

पूँजी कहते थे। कम्पनी की इसी लगाई हुई पूंजी को भरने में और कम्पनी के साथ साथ लोगों के निजी व्यापार के बढ़ने से भी भारतीय बुनकारों और व्यापारियों को भारी कष्ट हुआ। यह बात तो सही है कि हिन्दुस्तान के कुछ तरह के तन पर पहने जाने वाले नयनसुखों का जाना बन्द हो गया था तो भी मलमल, सादी छींट और बंगाल के वाफता के लिये रुकावट न थी, और जिनके लिये रुकावट भी थी, फिर फिर से भेजे जाने के लिये उनकी माँग होती थी। अंग्रेज़ी व्यापारी तो चाहते ही थे कि सूती माल के व्यापार में हमारा इजारा बना रहे और फल यह हुआ कि इजारे के पीछे पाछे जितने दोष आते हैं वह सभी दोष घहरा कर आ गिरे। सूरत में सं० १८५३ के लगभग कम्पनी के व्यापारी नौकरों को साधारण गतिविधि का भयानक वर्णन मिस्टर रिचर्ड्स ने सं० १८७० के छपे एक लेख में दिया है—

"कम्पनी की लागत पूँजी का रुपया सूरत में हद दर्जे की निठुराई और घोर अत्याचार के साथ इकट्ठा किया गया। बुनकारों को लाचार किया गया कि कम्पनी के लिये काम करने का प्रतिज्ञा पत्र लिख दें। यह प्रतिज्ञापत्र उनके बिल्कुल विरुद्ध था। वह इसे कदापि नहीं चाहते थे और कहीं कहीं तो ऐसा हुआ कि ज़बरदस्ती काम करने के बदले बुनकार ने अत्यन्त भारी दण्ड देना कबूल कर लिया। उनको ओलन्देज़, पुर्तगाली, फरासीसी और अर्बी सौदागर घटिया माल के लिये वह वह कीमतें देते थे जो बढ़िया माल के लिये भी कम्पनी नहीं देती थी। इसका फल यह हुआ कि देसावरी कोठियों के गुमाश्तों से और कम्पनी के व्यापारी कोठीवालों से हमेशा चढ़ा ऊपरी और झगड़े रहा करते थे और बुनकार भी आँख बचाते थे और माल निकाल

ले जाते थे और जो कहीं निगाह तले पड़ गये तो बड़ा कड़ा और भयानक दण्ड दिया जाता था। यह बात तो खुद कोठीवाल ही कहता था कि हमारा उद्देश्य तो यही है कि हम इजारे को क़ायम रखें और उसमें रत्ती भर भी कमी न होने दें। इस उद्देश्य को पूरा करने में इस हद तक ज़बरदस्ती की जाती थी और इतना दंड दिया जाता था कि अनेक बुनकार अपना काम ही छोड़ देते थे। परन्तु जब वह शहर छोड़कर जाना चाहते थे तो बिना अंग्रेज़ कोठीवाल की अनुमति के वह फाटक बाहर नहीं जाने पाते थे। जब तक बुनकार नवाब की प्रजा थे तब तक बराबर उनके यहाँ अर्जियाँ पड़ती थी कि बुनकारों को उनकी शेख़ी के लिये दंड दिया जाय और काम करने के लिये लाचार किया जाय। नवाब तो अंग्रेजों के हाथ का खिलौना था। जब कभी बुनकारों पर कड़ाई की जाती थी तब नवाब से यह कह दिया जाता था कि ऐसा कीजिए कि यह मालूम हो कि यह कड़ाई आप की सरकार की तरफ़ से अपने आप की गयी है। इससे कम्पनी या कम्पनी के लोगों से कोई मतलब नहीं है। यह उपाय इसलिए किया जाता था कि कम्पनी के नौकरों से वह बुरा न मानें और उनपर दोष न धरें। कपड़े का व्यापार बिल्कुल कम्पनी ही के हाथ में रहे और माल बहुत सस्ता मिले। इस मतलब से कोठीवाल बुनकारों को पेशगी दे दे कर दबाये रहता था कि अन्य व्यापारियों से वह बन्दोबस्त न कर लें। आस पास के राजाओं और नवाबों से कोठीवाल तय कर लेता था और वह अपने राज्य में हुक्म दे देते थे कि भरसक औरों को छोड़, कम्पनी ही के व्यापारियों और दलालों से व्यवहार किया जाय। दूसरों के हाथ कपड़े कदापि न बेचे जायँ। जब पीछे सूरत अंग्रेज़ी सरकार में मिला लिया गया तब भी अदा-

लत के हुक्म बराबर इस काम में लाये जाते थे कि इस तरह के मनमाने अत्याचार बेखटके किये जायँ।"

भारतवर्ष में कम्पनी के अधिकार में जो जो प्रान्त थे उन सब में इसी प्रकार का मनमाना अत्याचार फैला हुआ था। बंगाल की तो सब से बुरी दशा थी। मिस्टर बोल्ट्स का तो कहना है कि वहाँ अत्याचार एक रस भयंकरता से बराबर चलता रहा। हर बुनकार और दस्तकार भाँति भाँति के कष्टों से पीड़ा पा रहा था। कपड़े खरीदने की जो पद्धति थी उसमें छोटे मोटे अत्याचारों की तो बड़ी गुंजाइश थी। कम्पनी के एजेन्ट या बनिये अपने गुमाश्ते के साथ देहातों में जाते थे और सूबे का हाकिम जमांदार या गाँव के किसी अफसर के पास चिट्ठी या परवाना भेजता था कि कम्पनी के एजन्टों की मदद करो। बोल्टस् यों लिखता है—

"जब गुमाश्ता गाँव में या कस्बे में पहुँचता है तो अपनी कचहरी मुकर्रर कर लेता है और पियादों और हरकारों को भेजकर बुनकारों को और उनके साथ ही साथ उनके दलालों और पैकारों को भी बुलवाता है। अपने मालिक से रुपया पा लेने पर वह बुनकार से इस बात का वादा लिखवा लेता है कि हम इतना माल इतने दिन में इतने दाम पर देंगे और उन्हें थोड़ी सी रकम पेशगी दे देता है। इस बात की तो आवश्यकता ही नहीं समझी जाती कि बुनकार बेचारा कबूल कर रहा है या नहीं। कम्पनी के गुमाश्ते जो कम्पनी के लिए पूँजी उगाहने को नौकर हैं जैसा चाहते हैं वैसा कागज लिखाकर सही करा लेते हैं। गुमाश्तों की बही पर ऐसे बहुत से बुनकारों का नाम लिखा रहता है जो दूसरी जगह काम नहीं करने पाते। बल्कि

जो ही गुमाश्ता आता है उसी के पाजीपन और ज़बरदस्ती का शिकार बन कर बेचारा एक जगह से दूसरी जगह गुलामों की भाँति मारा मारा फिरता है। मालगोदाम में जितना पाजीपन किया जाता है वह तो कल्पना से बाहर है और सब का अन्त यही होता है कि बेचारा बुनकार ठगा जाता है। क्योंकि जाँचदारों से मिल करके गुमाश्ते लोग माल का जो दाम ठहराते हैं वह साधारण बाजार भाव से पंद्रह से लेकर चालीस प्रति सैकड़ा तक कम होता है।*

यह बात तो स्पष्ट ही थी कि जब बुनकार कम्पनी के सिवाय किसी दूसरे को माल दे ही नहीं सकते थे तो बुनकारों के सदा अत्याचार पीड़ित रहने में सन्देह ही क्या है। जो बात बंगाल में थी वही बात दक्षिण भारत में भी थी। मद्रास सरकार के कागजों में से एक नमूने का अवतरण हम यहाँ देते हैं। इससे यह पता लग जायगा कि कम्पनी के एजेण्टों के लिये माल हथियाने को क्या क्या छल-बल किये जाते थे। आरकाट के नवाब के ऊपर राजदूत का दबाव पड़ा और बेचारे नवाब ने लाचार होकर सं० १७७९ में अपने मातहत के नाम यह फरमान निकाला—

"मद्रास का गवर्नर तुम्हारे मुल्क में कपड़ा खरीदने आ रहा है। इस मौके पर मैं तुमको यह हुक्म दे रहा हूँ। ईजानिब की यह मर्ज़ी है कि तुम्हारे सूबे के जितने सौदागर हैं सब को सख़्त हुक्म दो कि मद्रास के गवरनर के लायक जो माल हो उन्हीं के और उनके आदमियों के ही हाथ बेचा जाय और वह जो कुछ कपड़ा अपने पास तैयार रखते हों, गवरनर के

---

* Boults "Considerations."

गुमाश्तों को फौरन हवाले करें। जिन चीजों को वह नापसन्द करें उन्हें और किसी के हाथ बेचने की इजाज़त दे सकते हो। यह ख़याल रहे कि सिवाय उनके लोगों के ऐसे माल को तुम्हारी तरफ का कोई न खरीदे। यह मेरा कड़ा फरमान है। और इसकी अमलदरामद के लिए अपने व्यापारियों से तावान लिखवा लो।"

इस तरह का खत कम्पनी की ठगी में मदद देने के लिये नवाब की तरफ से अक्सर भिजवाये जाते थे। जब मद्रास में और प्रान्त अपने अधिकार में कर लिये गये तो वही अत्याचार वहाँ भी जारी हुआ। कई साल बाद मद्रास सरकार के नाम जब लार्ड वेलेस्ली का १९ जुलाई सन् १८१४ (सम्वत् १८७१) का मशहूर खरीदा गया, तो उसमें बड़े प्रामाणिक अधिकारों के आधार पर यह बात लिखी गयी कि "कम्पनी के व्यापार को बढ़ाने के लिए बड़ी उच्छृङ्खल चालें चली गयीं हैं, और देश के उन व्यापारियों को हानि पहुँचायी गयी है जिनको लाभ उठाने का सच्चा अधिकार था, और उनके वाणिज्य के मार्ग में कांटे बोये गये हैं। मनमाने माल लेकर मनमाने दाम लगाये गये हैं। और जब इस तरह बेईमानी करके थोड़ा दाम दिया जाता था और उसे लेने से बुनकार लोग इनकार करते थे तो उस समय उन्हीं के कमरबन्द से बांध कर उन्हें कोड़े मारे जाते थे और वे भगा दिये जाते थे।"

कम्पनी के दिये हुए दाम वाजबी से बहुत कम होते थे और बुनकार को लाचार होकर कबूल करना पड़ता था। सं० १८२७ में जो महा अकाल पड़ा उससे बंगाल और दूसरे प्रान्तों के हजारों घर उजड़ गये। तोभी कम्पनी के नौकरों ने अपने अत्याचार न

छोड़े। दो बरस पीछे जब वारेन हेस्टिंग्स ने लोगों की शिकायतों की और उनके साथ जो दुर्व्यवहार हुए थे उसकी जाँच की तो उस समय लिखा कि "प्रजा की ओर से अत्याचारों की बहुत दुहाई दी जा रही है और उनके समर्थन में बहुत मज़बूत दरख्वास्तें आयी हैं, पर अधिकांश मामलों में कानूनी गवाहियाँ मिलनी असम्भव हैं।" वारेन हेस्टिंग्स की राय थी कि गवर्नर को यह अधिकार मिलना चाहिये कि जिस आदमी को चाहे उसे उसकी जगह से तुरन्त बुलवा ले और इस तरह से बुलवा लेने के कारण बताना आवश्यक न समझा जाय।

७. कायदों के बल से अत्याचार कानूनी बनाये गये

देश में जहाँ जहाँ कम्पनी का अधिकार था वहाँ वहाँ लूट खसोट और बेईमानी का साम्राज्य था और एक तरह से इनको कानून से समर्थन देने के लिए कुछ ऐसे कायदे बनाये गये थे जो बुनकारआबादी को बेजा दबाव में रखने और उनकी भलाई के मार्ग में रुकावटें डालने की क्रियायों को नीतिसंगत ठहराते थे। यह कायदा बनाया गया था कि जिस किसी बुनकार ने कम्पनी से पेशगी पायी हो उसे किसी दशा में किसी व्यक्ति को चाहे वह युरोपियन हो चाहे देशी हो अपने परिश्रम का फल या ठेके से तैयार माल न देना होगा और अगर वह वादा करके कपड़ा न दे सकेगा तो कोठीवाल का अधिकार होगा कि उस पर पियादे बैठा दे कि वह उससे जल्दी काम करावे। पियादे बैठाने का मतलब यह था कि बुनकार के ऊपर एक आना रोज़ जुर्माना होता था। बुनकार हमेशा के लिए गुलाम हो गया था। यह भी

क़ायदा बन गया था कि अगर बुनकार किसी और के हाथ कपड़ा बेचे तो दीवानी अदालत में उस पर मुक़द्दमा चलाया जा सकेगा। यह भी कायदा था कि जिस किसी बुनकार के पास एक से ज्यादा करघे होंगे और एक या ज्यादह कारीगर उसके यहाँ काम करते होंगे और वह किसी कारण से लिखे हुए वादे पर माल न दे सकेगा तो हर थान के ठहराये हुए दाम पर उसे ३५) रु० सैकड़ा तावान देना पड़ेगा। बुनकार कितना ही चाहे वह स्वतन्त्र नहीं रह सकता था और एक क़ायदा ऐसा बना था जिससे ज़मीन्दारों और काश्तकारों को यह हुक्म था कि किसी व्यापारी अफसर के बुनकारों के पास जाने में कोई रुकावट न डालें। इन पाशविक और तंग करनेवाली बाधाओं का मतलब यह था कि स्थानीय व्यवसायों का गला घोंट दिया जाय और वह पूरे तौर पर विदेशी व्यापारियों की मुट्ठी में आ जायँ। टामस मुनरो को बुनकारों की पीड़ा का सारा हाल मालूम था। सं० १८७० में पार्लियामेन्ट की एक कमेटी के सामने गवाही देते हुए उन्होंने कहा कि कम्पनी के नौकरों की आदत थी कि वह बुनकारों को जमा करते थे और उन पर गारद बैठा देते थे और जब तक वह कम्पनी के नौकरों के हाथ माल बेचने का इकरारनामा नहीं लिख देते थे तब तक उन्हें नहीं छोड़ते थे। बुनकार लोग इस तरह इकरारनामा लिख कर एक तरह की गुलामी में फंस जाते थे और बोल्ट्स का कहना है कि एक बार ऐसी सलाह हुई कि बुनकारों को अँग्रेज़ और ओलन्देजी सौदागरों में बाँट दिया जाय परन्तु बुनकारों के सौभाग्य से इस तरह से खुली और निर्लज्ज गुलामों की बांट को कम्पनी के डैरेक्टरों ने पसन्द नहीं किया। इस तरह की

विश्वास योग्य लीखी हुई गवाही बराबर मिलती है कि बुनकारों पर आये दिन भारी दंड लगा करते थे, भारी तावान लिये जाते थे और कोड़े भी लगाये जाते थे। कभी कभी काठ में ठोंक दिये जाते थे और कभी बेड़ियाँ पहनाकर सड़कों पर घुमा कर उन की बेइज्ज़ती की जाती थी। उनके ऊपर बेजा जुर्माने होते थे और उन्हें वसूल करने के लिये बर्तन छीन लिए जाते थे। और यह सजाएँ अकसर इस अपराध पर भी दी जाती थीं कि उन्होंने कम्पनी के एजेन्टों को छोड़ कर औरों के हाथ माल बचने का साहस किया। बोल्ट्स इन बातों से घबरा कर लिखता है—

"देश में बुनकारों की संख्या बहुत घट गयी है उसके कारण क्या हैं? तरह तरह के असंख्य विधियों से कम्पनी के एजेन्ट और गुमाश्ते इस देश में उन पर अत्याचार करते हैं। जुर्माने होते हैं, कैद होती है, कोड़े मारे जाते हैं, और उन से ज़बरदस्ती इकरारनामे लिखाए जाते हैं। कम्पनी के हिन्दुस्तानी बज़ाजों के साथ भी कोई अच्छा बर्ताव नहीं होता था। उन्हें कम्पनी के ही दामों पर युरोप की बनात लाचार हो खरीदनी पड़ती थी और यद्यपि देश में उसकी बिक्री सहज नहीं थी तौ भी उन्हें बाजार में लाना पड़ता था।"

"Madras in the olden days" 'पुराने समय में मद्रास' नाम की पुस्तक में टालब्वाय जे. व्हीलर ने भिन्न भिन्न स्थानों में दिखाया है कि कम्पनी के बजाज अकसर बुला लिये जाते थे और उन्हें भारी भारी तवानों की धमकी दी जाती थी। तब वह लाचार होकर ऐसे भारी इकरारनामे लिख देते थे जिनका

वह पूरा नहीं कर सकते थे।* देश में जिस तिस विधि से कम्पनी को लाभ पहुँचाने के लिये सब तरह के दबाव का पूरे तौर पर प्रयोग किया जाता था।

८. कम्पनी कैसे काम करता थी

ऊपर जो बातें हमने विस्तार पूर्वक दिखायी हैं उनसे इस बात की एक झलक मिल जाती है कि अपने और अपने पड़ोसी देशों में सूती माल के भीतरी और बाहरी व्यापार का पूरा इजारा अपने हाथ में कर लेने के लिये कम्पनी ने क्या क्या उपाय किये थे। उनका सारांश यह है—

(१) जहाँ कम्पना के गुमाश्ते देश में तमाम फैले हुए थे और अनगिनत अत्याचार कर रहे थे वहाँ और व्यापारियों को कड़ी मनाही भी थी कि गवर्नर के परवाने के बिना वह देश के अन्दर कोई माल खरीदने या बेचने के लिये गुमाश्ते न भेजें।

(२) बुनकारों से कम्पनी के गुमाश्तें जो मुचलके लिखवा लेते थे उनसे उन बेचारों को लाचार हो कर कम्पनो के नौकरों के मुँहबोले दाम पर माल दे देना पड़ता था। उनके लिये कोई दूसरा निकास न था।

---

* मार्च सन् १७६२ के एक ख़त में बंगाल के नवाब ने यह शिकायत की है कि कम्पनी के एजेन्ट रिआया और बनियों के माल और सामान ज़बरदस्ती उठा ले जाते हैं और उनके लागत की चौथाई की कीमत भी मुश्किल से देते हैं और अपने माल का जो एक रुपये की भी कीमत का नहीं होता मारपीट कर और तंग कर के रिआया से पाँच पाँच रुपये वसूल करते हैं।

(३) बुनकारों से तावान लिये जाते थे। उन पर जुर्माने होते थे, कोड़े लगते थे और तरह तरह के दंड दिये जाते थे।

(४) निजी व्यापार करनेवाले सौदागरों और बुनकारों के माल ज़बरदस्ती छीन लिये जाते थे।

(५) देश के भीतरी व्यापार पर जो साधारण व्यापारी करते थे बहुत भारी आयात और निर्यात कर लगाये गये।

(६) इन सब बातों का फल यह हुआ कि वर्षों तक देश की दस्तकारी बड़े कष्टदायक दबावों से तंग आ गयी और बहुत थोड़ी मजूरी पर बुनकारों को लाचार होकर एक मात्र कम्पनी के ही लिए काम करना पड़ा। वह अक्सर अपना काम छोड़ देते थे और रोटी के लिए जोखिम के धन्धे उठा लेते थे। इसके अनेक उदाहरण हैं। एक यही सुनिए। मिस्टर बोल्ट्स की गवाही है कि जंगलकाड़ी के चारों ओर के ज़िलों में से बुनकारों के ७०० परिवारों ने अपने अपने गाँव तुरन्त छोड़ दिये और अपना बुनकारी का धन्धा भी त्याग दिया क्योंकि उनके ज़िले में अत्याचार शुरू हो रहे थे। बोल्ट्स ने यह भी लिखा है कि कच्चे रेशम के परेतनेवालों ने जो "नागाओद" कहलाते थे इस डर से कि कहीं हम से ज़बरदस्ती काम न लिया जाय अपने अँगूठे काट डाले। बंगाल में जहाँ व्यापार भारी और विस्तृत था वहाँ अत्याचारों के परिणाम भी भयानक थे। हरी वरेलेस्ट उस समय बंगाल के गवर्नर थे। वह अपने १७ मार्च सन् १७६७ के पत्र में लिखते हैं कि "**आजकल बुनकार बहुत कम हो गये हैं। यह बात बहुत असाधारण है। यह तो ठीक नहीं कहा जा सकता कि देश जो पिछली विपत्ति में पड़ा हुआ**

था वह कारण है या भारतवर्ष के बन्दरगाहों पर साधारणतया व्यापार मन्दा हो गया है वह कारण है। परन्तु इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि कपड़े बनानेवालों की एक बड़ी संख्या ने अपना रोजगार छोड़ दिया है और किसी कम जोखिम के रोजगार से अपना पेट पालने लगे हैं।

इस तरह अत्याचार के बढ़ने से बहुत से बाज़ार बरबाद हो गये और ज़ुल्म का यह फल हुआ कि देश के कई भागों में देशी उद्योग धन्धा बिलकुल चौपट हो गया।

६. संवत् १८५७ से ६२ तक कताई और बुनाई

इतने पर भी भारतवर्ष का ठोस धन्धा कताई और बुनाई का काम जारी रहा। देश के कुछ भागों में तो यह काम घटने के बदले बड़ी धूम से और सफलता से चलता रहा। सम्वत् १८३५ में जेनरल ओर्म ने अपनी आँखों देखी बातें लिखी हैं कि "कारा मंडल के समुद्री किनारे पर और बंगाल के प्रान्त में भी पक्की सड़क या पेठोंवालों कस्बों से कुछ दूर ऐसा कोई गावँ मिलना मुशकिल था जिसमें हर नर नारी और बच्चा कपड़ा बनाने के काम में न लगा हो। उत्तरी और दक्षिणी सरकार का सब से अधिक भाग अकेले इसी काम में लगा हुआ है। यह भी बड़ाई की बात है कि हर ज़िले में एक विशेष ही ढंग का कपड़ा तैयार होता है जिस पर उस ज़िले की अनूठी कारीगरी की छाप है। ऐसी दक्षता अनेक शताब्दियों की परम्परा से परिवारों में चली आ रही है। तभी तो जो चीज़ तैयार करते हैं अपना जोड़ नहीं रखती। हिन्दुस्तान के आधे निवासियों के जीवन का एक भाग सूत की दस्तकारी है और इसमें सन्देह ही क्या है कि आदमी के लिये कातने और बुनने से हलका

काम और कोई हो ही नहीं सकता और इस देश में ऐसे असंख्य लोग हैं जो दूसरा कोई काम करते ही नहीं। बुनकार खुले मैदान अपना काम करते हैं और सूत की दस्तकारी सब लोगों को इसीलिए सब से ज़्यादह पसन्द है कि करघे के काम में घरवाली और बाल बच्चे बुनकार की सभी मदद करते हैं। हिन्दुओं में बुनकार या कोष्ठी कोई नीच जाति का आदमी नहीं समझा जाता। वह लोहार, बढ़ई, सुनार आदि कारीगरों से ऊपर और कायस्थों से नीचे समझे जाते हैं और अगर वह अपने रोजगार से बाहर का कोई धन्धा थाम ले तो अजाती कर दिया जाय।"

रोज़गार की हैसियत से कपड़े बीनना जहाँ बड़े आदर से देखा जाता था और बहुत सफल था वहाँ कताई का काम भी उसी तरह घर घर फैला हुआ था और सभी जाति और बिरादरी के लोग चरखा कातते थे।

१०. डाक्टर बुकानन की जाँच

हमारे सौभाग्य से संवत् १८६३ से ६७ तक डाक्टर बुकानन ने जो विस्तृत आर्थिक जाँच की है वह देश के भारी भारी क्षेत्रों के विषय में है। दक्षिण भारत में महीशूर की, कन्नाड़ की और मलाबार की और बंगाल और बिहार प्रान्तों की भी जाँच की है *। डाक्टर बुकानन ने उत्तरी भारत की जो जाँच की है

* संवत् १८६२ के लगभग बंगाल के व्यापार के सम्बन्ध में डाक्टर मिलबर्न के Oriental Commerce पूर्वी वाणिज्य की जिल्दों से बड़े काम की गवाही मिलती है। उत्तरी भारत भर में यह कपड़े बड़ी मात्रा में तैयार होते थे।

उन के स्थिति-पत्रों से कुछ महत्व की बातें लेकर हम आगे एक सारिणी देते हैं।

दक्षिण भारत के लिए डाक्टर बुकानन ने कोई बहुत विस्तृत और व्यापक स्थिति-पत्र नहीं दिये हैं। लेकिन जो कुछ उन्होंने

बाफ़ता—पटना, टांडा, चटगाँव, इलाहाबाद, वीरभूमि, खैराबाद, लक्खीपुर।

खासा—पटना, टाँडा, इलाहाबाद, हरिअल, शान्तीपुर, मऊ, लखनऊ।

डोरिया—चन्द्रकोना, टांडा ढाका, शान्तीपुर, हरीपाल।

महमूदी—टांडा, इलाहाबाद, खैराबाद, जोहाना, लखनऊ।

मलमल—ढाँका, पटना, शान्तीपुर, गाजीपुर, मेदनीपुर, काशी, मालदह।

सन्नो—टाँडा, इलाहाबाद, कोहाना, मऊ, बालासोर।

तरींदम—ढाँका, शान्तीपुर, कासिमाबाद, बुदावल, हरीपाल।

यह माल भारतवर्ष के कोने कोने, अमेरिका के संयुक्त राज्यों में, और युरोप के सभी भागों में भेजा जाता था। वाणिज्य का विस्तार इस प्रकार था।

संवत् १८६२ के लिए

बंगाल का वाणिज्य किस स्थान से था	आयात (जिसमें प्रधानतः सोना, चांदी आदि कोष शामिल था)	निर्यात कपड़ों के थानों का
१ लंदन	६७७२२) रु०	३३१५८२
२ डेन्मार्क	२१३५) रु०	३३७६३२
३ लिसबन्		१२१३३५२
४ अमेरिका (संयुक्तराज्य)	२५०९६) रु०	४७६३१३२

लिखा है उससे इतना तो निश्चय है कि दक्षिण भारत में कातने और बुननेवाले भरे पड़े थे। परन्तु दक्षिण भारत की अवस्था पर विचार आरम्भ करने के पहले यह अच्छा होगा कि सामने दी हुई सारिणी से इस धन्धे की स्थिति का जैसा पता लगता है हम उसका अनुशीलन कर लें। जो बात बिल्कुल स्पष्ट मालूम होती है वह यह है कि आबादी में नर नारी बच्चे मिलाकर हर दस प्राणी के पीछे कम से कम एक चर्खा चलता था।

अगर हम बड़ों ही को गिनें तो चर्खों की नैष्पत्तिक संख्या बहुत ऊँची हो जायगी। बेकारी की घड़ियों में कोई न कोई धन्धा करने के लिये और खेती आदि कामों से जो आमदनी होती थी उसे बढ़ाने के लिए प्रायः सभी घरों में, शायद ही कोई घर बचता हो—चर्खा कातना एक आवश्यक धन्धा था। घर के खर्च में इससे थोड़ा सहारा न था क्योंकि तकुआ पीछे साल में दो से लेकर चार रुपये तक उन्हें पड़ जाता था जोकि आजकल

लंका	१०३९४५
सुमात्रा	८५०८९
कारोमण्डल का किनारा ११५३९०) (विशेषतः माल)	४०७९४२
खलीज, फारस और अरब	८४५७८८
पेगू	८२२५४
पूलोपिनेङ्ग पूर्ववर्ती देश	८१६६१२
बटेविया	९१५९९६
चीन	२७९४६९

१८२१२७)

(चीन को रुई २८८४६१६) रु० की भेजी गयी

प्रान्त	आबादी	कातनेवालों की संख्या	सूत का दाम रुपयों में	कातनेवालों की वार्षिक औसत आमदनी रुपयों में	धुनिया की वार्षिक मजूरी	चरखों की संख्या	बुने हुए कपड़ों के दाम	प्रत्येक चरखे की सालाना आमदनी रुपयों में
पटना (बिहार)	३३६४४२०	३२०४२६	२३६७२७७	३।)	३६) रु० स्त्री और पुरुषके लिये	२१५२२	२४३८६२१ (केवल खद्दर)	२८।) से लेकर ५८)रु० तक
शाहाबाद	१४१९५२०	१५९५००	१२५००००	१')	+	८७७८	१६३४०००	४८) से लेकर ५३)रु० तक
भागलपुर	२०१९९००	१६०००० बहुत घटाकर कूता हुआ	५९४६००	४)	+	७२७९	८३२४४०	३२) रु०
गोरखपुर	१५८९३१४	१७५६००	११०६२५०	२॥)	+	६११४	५२२८४०	२३॥) से लेकर ३६)रु० तक
दीनाजपुर	+	+	११६५०००	३)	+	+	१०००००	३६) से लेकर ४०)रु० तक
पुनिया	२९०४३८०	+	+	३) से लेकर ६) तक (यहाँ कताई अच्छी होती थी)	+	३५०० (बढ़िया कपड़ेपर)	१३०००००	+
और रंगपुर	२७३५०००	+	+		+			

के हिसाब से १०) से लेकर २०) रु० तक होगा।* सारा समय कातने में ही लगाने वाले बहुत कम थे। दीनाजपुर और रंगपूर ज़िलों की तरह जो लोग सारा समय कातने में देते थे ।|≡)|| से |||) महीना तक कमाते थे जो ९) रु० साल तक पहुँचता है, और आजकल के हिसाब से ४५) साल के लगभग होगा। परन्तु मामूली बात यह थी कि जब स्त्रियों को और कोई काम न रहता था तब चर्खा कातती थीं। उन्हें या तो अपने खेत से रुई मिल जाती थी या अठवारे बाज़ार में मोल ले लेती थीं और मामूली तौर से गाँव के धुनिये से धुनवा लेती थीं और उसे कभी २ पैसा देती थी और कभी अनाज। धुनिया दिन भर में दो या सवा दो सेर पूनियाँ देता था और पौने सात सेर तक अनाज पाता था। बारीक कातने के लिये हाथ की छोटी धुनकी लेकर स्त्रियाँ आप अपनी रुई धुन लेती थीं आज भी वैसी धुनकियाँ काम में आती हैं। धुनिया ज़्यादह करके मुसलमान होता था या कोई नीच जाति का हिन्दू। कातने वालों के साथ साथ धुनियों को, रुई बेचनेवालों और ओटनेवालों को भी जोड़ लिया जाय तो यह सब मिलकर आवादी का सातवाँ भाग होता था। बुनकारों को अगर हम उनके परिवार के साथ गिनें तो उनकी संख्या भी कम न ठहरेगी। कपड़ा बुनने का पेशा देश में ऐसा फैला हुआ था कि बुनकार के घर भर दिन रात इसी काम में लगे रहते थे और इसी के मेल के और काम जैसे ज़रदोज़ी, रंगना, छापना आदि भी जो डाक्टर बुका-

* आज भी ऐसे कातने वालों की आमदनी बहुत जगह इसी हिसाब से है। पुर्निया की औरतें बारीक सूत कातती थीं और तकली काम में आती थीं।

नन के अनुसार बहुत प्रचलित थे और जिनमें अच्छी कमाई होती थी बिनाई के साथ जोड़ लिये जायँ तो कम से कम कूतने पर भी भारत की सारी आबादी में सैकड़ा पीछे एक आदमी के जीवन का पूरा काम था। बुनकार को अच्छी मज़दूरी मिलती थी और जब वह बराबर दिन भर काम किया करता था तो उसकी आमदनी १०८॥) रु० साल या आजकल के हिसाब से ५४०) से ५५०) रु० तक होती थी। कुछ बुनकार खेत में भी काम करते थे। वह किसान होते थे और जब खेतों में काम न होता था तब वह बचे समय को कपड़ा बुनने में लगाते थे। दिनाजपूर के ज़िले के सम्बन्ध में लिखते हुये डाक्टर बुकानन कहते हैं कि "बहुत से किसानों के घर में चाहे मुसलमान हों चाहे हिन्दू एक एक करघा ज़रूर है और जब फुरसत मिलती है तो घर के नर नारी सभी बुनने का काम करते हैं और गज्जी, गाढ़ा आदि खद्दर तैयार करते हैं।" जो बुनकार मजूरी पर काम करते थे उनकी जीविका अच्छी थी और उन्हें किसी बात की कमी नहीं रहती थी। धीरे धीरे कम्पनी के एजन्टों ने उनके ऊपर दबाव डालना शुरू किया और जिस पेशगी के हानिकारक फल इतने स्पष्ट थे कि डाक्टर बुकानन जैसे खोजी से छिप नहीं सकते थे। उसी पेशगी के सहारे कम्पनी के एजन्टों ने इन बुनकारों को दासता की जंजीर में जकड़ना चाहा। डाक्टर बुकानन ने लिखा है कि हर जगह मुझे यही बात दिखाई दे रही है कि पेशगी पाकर कम्पनी के एजन्टों और नौकरों के लिये काम करनेवाले बुनकारों की अपेक्षा अपनी इच्छा से स्वतंत्र रोजगार करनेवाले बुनकार कहीं अच्छी दशा में थे। यह तो मनुष्य का स्वभाव है कि

समय से पहिले जब रुपया पाता है तो आगे के लिये जमा करने के बदले खरच ही कर डालता है। इसमें संदेह नहीं कि पेशगी मिलने से उनके पास रुपया नहीं जमा हो सकता था और जब वह हमेशा पेशगी के मुहताज रहने लगे तो उनको स्वाधीनता या सुखचैन कहाँ से मिल सकता है। इस तरह पेशगी की रीति किसान और दस्तकार दोनों के लिये बरबादी का कारण थी। पूँजी न जुटने देने की हानि के विचार को हम अलग भी रक्खें तो भी यही हानि क्या कम है कि पेशगी पाने वालों में सम्हल कर खर्च करने और आगे के लिये बचा रखने की बान नष्ट हो जाती है। कम्पनी के आदमी जो दाम ठहरा देते थे, उसे लेने और माल के देने में व्यवहार में भी बड़ा कष्ट था * माल-दह का ही उदाहरण लीजिये। कम्पनी के एजन्टों ने वहाँ कई करघों को फसाया और पेशगी रक़में दीं पर अन्त में फल यह हुआ कि बुनकारों की बड़ी भारी हानि हुई और उनकी संख्या घट गयी। पेशगी के रवाज से बहुत से बुनकार ऋणी हो जाते थे और ऋण से छूटना उनके लिये आसान न था। ऐसी दशा के होते हुए भी और सभी रोज़गारों की अपेक्षा सूत का काम बड़े ज़ोरों का और बड़े महत्व का था और उसमें भावों का उतार चढ़ाव बहुत कम होता था। क्योंकि माल का बहुत अधिक भाग उन्हीं ज़िलों में खप जाता था जहाँ वह माल तैयार होता था और मानलो कि माल का बाहर जाना एकदम बन्द भी हो जाता तो भी बुनकारों की

* यह ख़याल रहे कि डाक्टर बुकानन ने यह बात भीतरी ज़िलों की लिखी है। समुद्रतट के पास बंगाल के बुनकारों के ऊपर तो सब से ज़्यादा ज़ुल्म किया जाता था।

बहुत हानि न थी। वह वही समय ऐसे माल की तय्यारी में लगाते जिसकी माँग ज़िले में सबसे ज्यादा थी। कपड़ा तो मामूली तौर से बाज़ार के दिनों में नगद बिकता था, इसलिये बुनकार को कभी बेकार बैठना नहीं पड़ता था।

११. साधारण खर्च का परिमाण

भिन्न भिन्न श्रेणियों के परिवारों का साधारण खर्च विशेष करके जो खाने और कपड़े में पड़ता था डाक्टर बुकानन ने जो अटकल लगायी है, और जो विवरण इकट्ठा किया है वह समझने लायक है। दिनाजपुर ज़िले के लिये उन्होंने जो विश्लेषण किया है वही उत्तरी भारत के प्रायः सभी ज़िलों में थोड़े बहुत भेदों के साथ लग सकता है। उस ज़िले में कम से कम छः भिन्न भिन्न तरह के परिवार थे। उनका खर्च भी भिन्न परिमाण का था। नीचे की सारिणी में डाक्टर बुकानन के विश्लेषण का फल दिया जाता है।

पाँच प्राणियों के परिवार की श्रेणी	खाने में वार्षिक व्यय	कपड़े में वार्षिक व्यय
पहली	३३४।।।–) रु०	२१०) रु०
दूसरी	१७४) रु०	७२) रु०
तीसरी	१२८) रु०	३७।।) रु०
चौथी	६६) रु०	१७।।।) रु०
पाँचवीं	३०) रु०	३।=) रु०
छठीं	२०।।=) रु०	२।=) रु०

अंत की दोनों श्रेणियाँ सब से ग़रीब खेतिहर और दस्तकार की हैं। परन्तु मध्यम वर्ग के लोग और अच्छे अच्छे दस्त-

कार मनमाने कपड़े पहनते थे और उनके भोजन की अपेक्षा कपड़े का खर्च एक तिहाई था। अधिकांश तो परिवारों को कपड़ा ख़रीदने में कुछ भी खर्च नहीं करना पड़ता था। ग़रीब लोग तो घर पर सूत कतवाते थे और पड़ोस में बिनवा लेते थे।

१२. दक्षिण भारत और महीशूर

जो दशा उत्तर भारत की थी, लगभग वही दशा दक्षिण भारत की भी थी। भेद था तो इतना ही कि उत्तर भारत से वहाँ यह रोजगार अधिक ज़ोरों पर था और कातनेवालों और बुननेवालों की संख्या अत्यन्त बढ़ी हुई थी। महीशूर में तो ब्राह्मणों को छोड़ सभी जाति की स्त्रियाँ अपनी बची घड़ियों में विशेष रूप से सूत कातने का ही काम करती थीं। डाक्टर बुकानन लिखते हैं—

"कोयम्बतूर के ज़िले में नीच जातियों की सभी स्त्रियाँ सब से अच्छी कातनेवालियाँ हैं और पंचम जाति के स्त्रियों का सूत तो योंही सब से उत्तम होता है। दक्षिण भारत में हर अठवारी पेठ में सूत और सूती कपड़े की बिक्री का ही विशेष कारबार होता है। जो ज़िले अंगरेज़ों को मिल गये हैं उनसे तथा दूसरे बाहर के ज़िलों से भी सूत बेचने और कपड़ा खरीदने के लिये व्यापारी लोग महीशूर को आया करते हैं। कारामण्डल का समुद्री तट, उत्तरी और दक्षिणी सरकार, सेलम के भीतरी ज़िले और कोयम्बतूर सूत के व्यापार के तथा कपड़े की दस्तकारी के भारी भारी बाज़ार हैं, और हर जगह कम्पनी के एजन्ट दिखाई पड़ते हैं जो कहीं बुनकारों को पेशगी दे रहे हैं और कहीं यूरोप को चालान करने के लिये मलमल, नयनसुख, परकाले और तरह तरह के कपड़े खरीद रहे हैं। सेलम और कोयम्बतूर के कलेक्टरों का असल में प्रधान कर्तव्य बाहर भेजने के लिये कपड़ा

इकट्ठा करना ही जान पड़ता है। आमतौर से यह कहा जा सकता है कि दो एक महत्व के भेदों को छोड़कर दक्षिण भारत की बिहार और बङ्गाल की सी ही दशा है। दक्षिण भारत में जैसे ब्राह्मण पुरुष हल थामना पाप समझते हैं वैसे ही ब्राह्मणी चरखा नहीं छूती हैं। पर उत्तर भारत में चरखा कातने से कोई नीच नहीं समझा जाता है। कताई से जो मजूरी उत्तर में मिलती है वही दक्षिण में भी। सूत की मोटाई और बारीकी के अनुसार घंटा पीछे १०० से ६०० गज़ तक की कताई होती है। जब सूत बहुत बारीक होता है अर्थात् १०० नम्बर से ऊपर होता है तो दिन भर में प्रायः ८४० गज़ की एक अंट्टी से ज़्यादा कोई स्त्री नहीं कात सकती है। और जब बहुत मोटा होता है तो तीन पाव तक कात लेती है और -)॥ रोज़ से ज़्यादा कमा लेती हैं। और घंटे में पाँच छः सौ गज़ तक काता करती हैं।"

ओटना, धुनना, साफ़ करना आदि कताई के करने का सारा काम दक्षिण भारत में कातनेवाली अपने आप करती थी। डाक्टर बुकानन के दक्षिण भारत के विवरणों में कहीं धुनियों की चरचा नहीं है। बहुत संभव है कि बंगाल और बिहार की तरह से वहाँ भी धुनाई के रोज़गार में कोई लाभ न था और न पेशे की तरह उसे लोग पसन्द करते थे, और कातनेवाली धुननेवाली का भी काम कर लेती थी। उत्तर और दक्षिण सारे भारत में हर जगह कपड़े का भाव एक ही होता था। हाँ, मलमल आदि महीन कपड़े दक्षिण में और जगह से सस्ते थे। बंगाल के बाफ्ते और कोयम-बत्तूर के खद्दर प्रायः बराबर भाव पर विकते थे। यद्यपि डाक्टर बुकानन दक्षिणी प्रान्तों में पहले ही पहल गये और उनकी पहले ही जाँच की तथापि उन्होंने इस सम्बन्ध में वहाँ के कोई पूरे स्थिति-

पत्र नहीं दिये हैं तो भी साधारण दशाओं का जो चित्र खींचा है उससे हम इस नतीजे पर पहुँच सकते हैं कि विदेशी कपड़ा या विदेशी सूत का जनता पर तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ा था। विदेशी सूत का तो कोई नाम ही नहीं जानता था परन्तु शहरों के कुछ इने गिने रहनेवालों के सिवाय विदेशी कपड़ों की भी कहीं पूछ न थी।*

---

* मिलबर्न ने "पूर्वी वाणिज्य" में लिखा है कि संवत् १८४९ से लेकर संवत् १८६५ तक मद्रास से विशेष रूप से कपड़े ही बाहर भेजे जाते थे। पूलीकाट रुमाल; वाटापलयाम रुमाल, नीले कपड़े, पश्म, साड़ी, सालमपुर, पलामपुर, छींट, बुक मलमल, मलमल के रुमाल और सब तरह के जिंघम साधारणतया दक्षिण में बनते थे और इंग्लिस्तान और अमेरिका भेजे जाते थे। संवत् १८६२ में मद्रास का व्यापार यह था।

कहाँ जाता था	कपड़ा जो आता था	कपड़ा जो जाता था
(१) लंदन	१३०००)	१४६८११)
(२) अमेरिका के संयुक्त राज्य	×	१२४४४९४)
(३) बम्बई	७४७४९)	८८५७०)
(४) उत्तरी सरकार	१९१८०)	५५९१४६)
(५) मलाबार का किनारा	९६९०५)	१०५८२८)
(६) बंगाल	३३७५४६)	८९४००)
(७) पेनांग और उससे पूर्व	×	९२५८९२)

रूई, सूत और कपड़ों का व्यापार जो मद्रास के साथ संसार भर का होता था, इस प्रकार था।

वस्तु	आयात	निर्यात
(१) रूई	२५१४५८)	१७५४१६)
(२) सूत	५५११४)	८६४५)
(३) कपड़े	२०४४५८२)	५२६६१७१)

जो कपड़े आते थे वह देसावर से कम आते थे। अधिकांश भीतरी ज़िलों से और उत्तर भारत से ही आते थे।

१३. विदेशी कपड़ों की मांग न थी

डाक्टर बुकानन की गवाही से यह साफ़ ज़ाहिर है कि उन दिनों हर तरह के लोग अपनी फ़ुरसत की घड़ी में इस तरह का काम करके लाभ उठाया करते थे और सारा खर्च खेती ही के मत्थे नहीं मढ़ा जाता था। देशी दस्तकारी बराबर इतनी उत्तम होती रही कि भारतवर्ष में यूरोप की बनी चीज़ों की खपत बढ़ नहीं सकती थी। सँवत् १८७० में पार्लियामेण्टरी कमीटी के सामने बयान देते हुए वारेन हेस्टिंग्ज़ ने सब से ज़्यादह इसी बात पर ज़ोर दिया था। जितने कपड़े की लोगों को ज़रूरत पड़ती थी उतने देश में ही बन जाते थे और बिक जाते थे। जिस सस्तेपन को देख कर विदेशी लोग दंग रह जाते थे वही स्वदेशी चीज़ों के आगे विदेशी की बिक्री असम्भव कर देता था। उत्तम-आशा अन्तरीप के उत्तर के देशों में और ख़ासकर भारतवर्ष में बिकने के लिए जो माल इंग्लिस्तान ने संवत् १८५७ से सं० १८७०

तक भेजा है उसके अंक देखने से पता चलता है कि हमारे देश में इंग्लिस्तान और दूसरे विदेशों की वस्तुओं की माँग इतनी कम थी कि इसकी कोई गिनती नहीं की जा सकती।

संवत्	विलायत से चले हुए मालके दाम
१८५७	२९३६२५)
१८५८	३१८०००)
१८५९	२४२८६५)
१८६०	४१८१४)
१८६१	८९०४०)
१८६२	४७९१४५)
१८६३	७२७८७५)
१८६४	१०२५६१५)
१८६५	१७७६१२०)
१८६६	११२०४२५)
१८६७	१७११७३५)
१८६८	१६०९५९०)
१८६९	१६३२३६०)

पहले पहल संवत् १८६५ के बाद ही भारत में विलायती माल की आमद की रकम १५ लाख से ऊपर पहुँची। इसमें सन्देह नहीं कि संवत् १८५७ से लेकर संवत् १८६३ तक में भारतीय कपड़ों का बाहर जाना बहुत घट गया। यहाँ से जितनी गाँठें बाहर भेजी जाती थीं उनका औसत दो हज़ार से अधिक नहीं

बैठता था। भारतीय माल पर भारी बाधक कर लगाये जाने से धीरे धीरे व्यापार घटता जाता था। कम्पनी की तरफ़ से इस बात की बराबर डटके कोशिश होती रही कि अंग्रेज़ी कपड़े भारत में फैल जावें और अंग्रेज़ी सूत भी खपने लगे। तो भी अंग्रेज़ी सूती माल लोगों को पसन्द नहीं आते थे। और सूत को तो कोई पूछता ही न था। **यहाँ तक कि भारत में पहले पहल सं० १८८० में विलायती सूत आया।**

१४. भारी बाधक कर और भारतीय माल

यह याद रखना चाहिये कि इन्हीं दिनों इंगलिस्तान में सूत की दस्तकारी ने लम्बे क़दम बढ़ाये थे। कारण यह था कि बिक्रम की उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में ही कताई-बुनाई की अनेक कलें वहाँ बन गयी थी। संवत् १८१७में खटक ढरकी (Fly shuttle) बनी और सं० १८२१ में कातनेवाली पुतली बनी और सं० १८२२ में कल से चलनेवाला करघा बना और सं० १८२५ में भाफ का इंजन बना। इस शताब्दी के उत्तरार्ध में जवाकी चर्चा हम कर रहे हैं यह सब मशीनें हर तरह से पूरी हो गयी थीं और मँज गयी थीं और भारतवर्ष से जितना माल-दौलत जो भाँति भाँति से खिंच खिंच कर विलायत में आगया था, वह सब इकट्ठा होकर नयी पूँजी खड़ी होगयी थी। उसीके बल पर यह नयी मशीनें जो शायद सैकड़ों वर्ष तक पड़ी मोरचा खातीं, ज़ोरों से चल पड़ीं। भारतवर्ष का दुर्भाग्य इंग्लिस्तान का भाग्योदय था। धन के कल्प-वृक्ष को हिला हिला और काट काट कर बरसों पहले विलायत का खजाना भर लिया गया था और भारतवर्ष से लूटा हुआ

दिनों में बराबर लूटखसोट करनेवालों का लालच और स्वार्थ इस हद तक बढ़ा हुआ था कि भारतीय बन्दरगाह अंग्रेजी माल के लिए खुले हुए थे और व्यवहार रीत्या उन पर कोई महसूल न लगता था। इन एक तरफ़ा महसूलों के अन्याय से ही विशेष रूप से उत्तेजित होकर विलसन नाम के इतिहासकार ने अंग्रेज़ी कूटनीति की घोर निन्दा की है। यहाँ हम उन्हीं के शब्दों का भावार्थ देते हैं—

"मुक्तद्वार का सिद्धान्त क्या है? यही कि अपने घर के बने हुए ज़्यादा मँहगे माल को विदेशी माल पर भारी महसूल लगा कर बचाने के बदले सस्ते माल को बेखटके आने दिया जाय। निश्चय ही ऐसा मुक्तद्वार व्यापार सब समयों में और सब परिस्थितियों में कभी चलाया नहीं जा सकता। इस बात का सब से बड़ा और अनोखा उदाहरण भारतीय सूती माल के व्यापार से हमें मिलता है। यह व्यापार इस बात का भी दुःखमय उदाहरण है कि भारतवर्ष ने जिस देश का भरोसा किया और जिस देश के आश्रित हुआ, उसी देश ने उसका गला काटा। सं० १८७० में गवाही में यह बात कही गयी थी कि उस साल तक विलायत के बने सूती और रेशमी माल के मुकाबले वैसा ही भारतीय माल ५०) या ६०) प्रति सैकड़ा कम दाम पर विलायत ही में आकर नफे के साथ बिकता था। इसलिए यह जरूरी हो गया कि भारतीय माल पर ७०) या ८०) सैकड़ा कर लगाकर उसका आना रोका जाय और विलायती माल को बचाया जाय। अगर ऐसा न किया जाता, इस तरह की रुकावट डालने वाले महसूल और मंतव्य न होते तो पैसले और मन्चेस्टर की मिलें तो आरम्भ ही में रुक जातीं और भाप का

बल भी उन्हें किसी तरह चला न सकता, वह तो भारतीय कारबार का बलिदान करके बनायी गयीं। भारत स्वतन्त्र होता तो उसने बदला लिया होता। अंग्रेजी माल के ऊपर बाधक कर लगा देता। अपने उपजाऊ उद्योग को नष्ट होने से बचा लेता। उसे इस तरह से अपनी रक्षा नहीं करने दिया गया क्योंकि वह बिल्कुल विदेशी मुट्ठी में था।"

यह तो राबराय का वही सूत्र था—

"राखै सोइ जेहितें बनै, जेहि बल होई सो लेइ"

जिन स्वार्थी व्यापारी सिद्धान्तों ने असमान करों की कूट-नीति चलायी थी, उनके विरुद्ध भारतवर्ष लड़ाई नहीं कर सकता था। सं० १८७० के बाद कम्पनी का इजारा रद्द कर दिया गया और भारतीय व्यापार का द्वार सभी अंग्रेजों के लिये खुल गया। भारत में आनेवाले अंग्रेज़ी माल को अनगिनत सुभीते दिये गये। नाम मात्र के आयात-कर को घटा कर ढाई रुपया सैकड़े तक कर दिया गया। और बहुत से कपड़े के किस्म के माल तो बिल्कुल बिना किसी तरह का कर दिये, भारतवर्ष में आने लगे। उनके ऊपर यात्रा में भी जो कर लगते थे वह भी घटा दिये गये। और कई ऐसे भी उदाहरण हैं जिन में वह बिल्कुल हटा दिये गये। देश के भीतर रुई पर जो कर लगता था वह बढ़ा दिया गया। परन्तु जो रुई यहाँ से इंग्लिस्तान भेजी जाती थी, उस पर कुछ भी नहीं लिया जाता था। जहाँ यह सब बातें थीं वहाँ भारतीय माल के भारत में ही बिकने में भाँति भाँति के अड़ंगे डाले गये। इस तरह की बेजोड़ लड़ाई

में बलवान पक्ष की जीत सहज हो गयी। जो अंग्रेज भारतवर्ष में अपने भाग्य के दाँव लगाने आये थे वह इसलिए नहीं जीते कि उन में भारतियों से अधिक और ऊँचे प्रकार की कार्य-दक्षता थी या उनके पास भारतीयों की अपेक्षा अधिक पूँजी थी। उन की जीत की कुंजी थी—असमान कर। जो कि इतनी होशियारी से लगाया कि हलके कर के बल से इंग्लिस्तान उछल कर ऊंचे हो जाय और भारी कर के बोझ से भारतवर्ष दब कर रसातल को चला जाय। ईस्ट इन्डिया कम्पनी के हितैषी मिस्टर रिचर्ड्स ने भी कमीटी के सामने गवाही दी थी।

उन्होंने भी लिखा है कि "इंगलिस्तान में जो माल भारत से आता है उस पर अन्याय से और बेईमानी से कर लगाये जाते हैं। जो माल भारत से विलायत में आता है या विलायत से हिन्दुस्तान को जाता है, दोनों समान भाव से अंग्रेजी रिआया का ही माल है पर दोनों के ऊपर महसूल लगाने की विधि समान नहीं है। असमानता यह है कि हिन्दुस्तान के भीतर विलायती माल तो बिना कर के चला जाता है पर विलायत में हिन्दुस्तान से आनेवाले माल पर अति अधिक कर लगाया जाता है। बहुत साधारण खर्च में आनेवाली अनेक चीजों पर सौ प्रति सैकड़ा से भी अधिक बल्कि छः सौ प्रति सैकड़ा तक महसूल लगता है और एक चीज पर तो महसूल तीन हज़ार रुपये प्रति सैकड़ा तक पहुँच गया है।"

यह बाधक कर समय समय पर घटते बढ़ते रहते थे और तभी उठा लिये गये जब यह निश्चयपूर्वक समझ लिया गया कि सूती कपड़ों का भारतीय निर्यात व्यापार एकदम मर गया और अब फिर जी नहीं सकता। भिन्न भिन्न वर्षों में यह बाधक

कर किस तरह से घटता बढ़ता रहता था यह जानने लायक बात है।

* हर सौ गिन्नी की मालियत पर

सम्बत्	सफेद नयनसुख	मलमल और नानकीन	रंगे और छपे हुए	सूती माल जिन पर
१८५४	१८—३—०	१९—६—०	माल की	और तरह
१८५५	२१—३—०	२२—१६—०	मनाही थी	पर कर
१८५६	२६—९—१	३०—३—९	,,	नहीं लगा
१८५९	२७—१—१	३०—१५—९		
१८६०	५९—१—३	३०—१८—२		
१८६१	६५—१२—६	३४—७—३		
१८६२	६६—१८—९	३५—१—३		
१८६३	७१—६—३	३७—७—१		
१८६६	७१—१३—४	३७—६—८		२७—६—८
१८६९	७३—०—०	३७—६—८		
१८७०	८५—२—१	४४—६—८		३२—९—२
१८७१	६७—१०—१	३७—१०—०		३२—१०—०
१८७२से १८८९	मालियत पर १० गिन्नी प्रति सैकड़ा महसूल और प्रति वर्ग गज साढ़े तीन सैकड़ा अगर छपा माल हो—			२०—०—०
१९०३	१० गिन्नीवाला महसूल रद्द कर दिया गया।			

---

* हम लोग एक सावरेन (सुवर्ण) पौंड को गिन्नी ही बोलते हैं। बहुत दिनों तक १ गिन्नी १५) के बराबर समझी जाती थी। १२ पेंस की एक शिलिंग और २० शिलिंग की एक गिन्नी होती है।

भिन्न भिन्न समयों पर जो बाधक कर प्रचलित थे उनकी दर से आयात और निर्यात व्यापार के अंकों का मुकाबला करने पर यह प्रकट हो जायगा कि अंगरेज़ी माल ने भारतीय माल को किस तरह दबाया था ।

सम्वत्	भारतवर्ष से कितने थान गये	बाधक करों की दर	विलायत से कितने गज़ आये
१९७१	१२६६६०८	मलमल पर ३७) प्रति सैकड़ा नयनसुख पर ६७) प्रति सैकड़ा और माल पर २७॥=)८पा. प्रति सैकड़ा	८१८२०८
१८७८	५३४४९५	मलमल पर ३७॥) प्रति सैकड़ा नयनसुख पर ६७॥) प्रति सैकड़ा और माल पर ५०) प्रति सैकड़ा	१९१३८७२६
१८८५	४२२८०४	महसूल १०) प्रति सैकड़ा	४२८२२०७७$\frac{1}{2}$
१८९२	३०६०८६	,, १०) प्रति सैकड़ा	५१७६७२७७

भारत में बाधक कर २॥) रु० प्रति सैकड़ा

मुक्तद्वार व्यापार के सिद्धान्त पर अगरेजी माल भारतवर्ष में आकर बाजारों में भरने लगा और स्वदेशी माल बिलकुल रोक दिये गये और उनके ऊपर बहुत भारी और बाधक कर लगाये गये । जब विलायती माल अत्यन्त सस्ता हो गया और भारत के माल का बिल्कुल बाहरी चालान बन्द हो गया तब यह बाधक कर भी या तो उठा लिये गये या ढीले कर दिये गये ।

१५. सं० १८७० से १८९० तक में व्यापार की स्थि

जब सूती माल का व्यापार इंगलिस्तान में सुरक्षित हो ग और भारतवर्ष को लूटने के लिये खुला छोड़ दिया गया अंग्रेजी व्यापार का सं० १८७० से विकास होने लगा। स १८७० से लेकर १८९० तक दोनों देशों में करों की असमान थी। इस अवधि के भीतर भारतवर्ष से जो सूती माल बाहर ग और युरोपियन देशों से जो सूती माल भारत में आये, उन आँकड़ों से यह साफ़ पता चलता है कि भारत के माल का बा जाना किस तरह बराबर घटता गया और विदेशी माल का य आना किस तरह बढ़ता गया।

संवत्	भारत से बाहर जाने वाले सूती माल का दाम	विदेश से आने वाले सूती माल का दाम	विदेश से हुए सूत क दाम
१८७०	५२९१४५८)	९२०७०)	
१८७१	८४९०७००)	४५०००)	
१८७२	१३१५१४२७)	२६८३००)	
१८७३	१६५९४३८०)	३१७६०२)	
१८७४	१३२७२१५४)	११२२३७२)	
१८७५	११२२७३८५)	२६५८९४०)	
१८७६	९०३०७९६)	१५८२३५३)	
१८७७	८५४०७६३)	३५५९६४२)	
१८७८	७६६४८२०)	४६७८६५०)	
१८७९	८००९४३२)	६५८२३५१)	

१८८०	५८७०५२३)	३७२०५४०)	
१८८१	६०१७५५९)	५२९६८१६)	
१८८२	५८३४६३८)	४१२४१५९)	१२३१४६
१८८३	३९४८४४२)	४३४६०५४)	७५२७६
१८८४	२८७६३१३)	५२५२७९३)	८८२७४३
१८८५	२२२३१६३)	७९९६३८३)	१९११२०५
१८८६	१३२४२३)	५२१६२२६)	३५२२६४०
१८८७	८५७२८०)	६०१२७२९)	१५५५३२१
१८८८	८४९८८७)	४५६४०४७)	३११२१३८
१८८९	८२२८९१)	४२६४७०७)	४२८५५१७

सं० १८९० तक भारत से सूती माल का बाहरी चालान इतना कम हो गया था कि उसे हम नगण्य कह सकते हैं। साथ ही अँगरेज़ी कपड़े और सूत भारतीय बाजारों में घुस आये और सदा के लिये उसके एक भाग पर अपना अधिकार जमा लिया।

१६. टोलघर की नोचखसोट

इतना ही नहीं हुआ कि भारतीय निर्यात व्यापार का बेईमानी से गला घोटा गया बल्कि देश के भीतर माल के आने जाने में कर लगाये गये। भारत के भीतर भारत ही के माल पर तरह तरह के कष्टदायक कर लिये गये। नवाबों के और दूसरे भारतीय हाकिमों के शासनों में भी कर लगते थे परन्तु वह एक प्रकार की चुंगी सी थी। ❀ यह चुंगी माल के दाम पर नहीं लगती थी यह तो

❀ सं० १८९१ की लिखी हुई सर चार्ल्स ट्रेविलियन की रिपोर्ट पर

बैल, टट्टू या गाड़ी पीछे ली जाती थी। यह रकम इतनी छोटी होती थी कि उसको मारलेने का कोई किसी को काम न था। किसी परवाने की ज़रूरत न पड़ती थी और किसी भी बहाने से चुंगी घर के पास माल की तलाशी नहीं होती थी। जितनी दूर माल को ले जाया जाता था उतनी दूरी के हिसाब से कर लगता था। और ज्यों ज्यों व्यापारी आगे बढ़ता था उसे किस्तवार देना पड़ता था। लेकिन अंग्रेजों ने इस पद्धति को बिलकुल उलट दिया। व्यापारी को सारा महसूल शुरू ही में दे डालना पड़ता था चाहे वह कितनी ही दूर जाने वाला हो और तब कहीं आगे बढ़ने को उसे परवाना मिलता था। उन्होंने अधिक से अधिक दूर माल ले जाने के सब महसूलों का जोड़कर इकट्ठा वेबाक कर देने का परिमाण बना लिया, जिसका नाम सारी चुंगी की वेबाकी रखा। इसी के नाम पर इस महसूल को मनमाना बढ़ा लिया। पार्लियामेन्ट के एक कमेटी के सामने सं० १९०० में श्री रेनकिंग की गवाही हुई थी उन्होंने कहा था कि भारतवर्ष में जो सूती माल तैयार होता है और वहीं खपता है उसे किसी किसी जिले में १७॥) रु० सैकड़े तक राह चलते कर देना पड़ता है। कच्चे माल पर ५) रु० सैकड़ा, सूत पर ७॥) रु० सैकड़ा, कपड़े पर २॥) सैकड़ा और अगर कहीं परवाने में सफेद कपडा लिखा है और कपड़ा रंगीन निकला तो २॥) रु० सैकड़ा और भरना पड़ता था। जहाँ कहीं थोक कारबार होता था वहाँ इन महसूलों को बारम्बार चुकाते रहने से कुछ

आलोचना करते हुये सर जान फ्रेड रिकवारने "भारतीय मामलों पर" जो टिप्पणियाँ लिखी हैं उनमें चुंगी के अफसरों की बुराइयों और बेइमानियों का वर्णन किया है। इस स्थल पर उसे देखना चाहिये।

बच नहीं सकता था। क्योंकि बहुत दूर दूर से थोड़ा २ सामान आये बिना काम नहीं चल सकता था। रुई पर चार बार महसूल लग लेता था तब उसका कपड़ा बनता था और कच्चे माल पर जो परवाना लिया जाता था अगर तैयार माल उसी के हिसाब से न हुआ तो और भी यात्रा-कर देने पड़ते थे। व्यापारी को चुंगीघर पर जो परवाना लेना पड़ता था वह भी एक भारी झंझट का काम था। यह परवाना एक ठहराई हुई मियाद तक चलता था। उस मीयाद के बीतने पर जो माल बे बिका रह गया तो उसे परवाना बदलवाना पड़ता था। परन्तु जब तक वह यह न सिद्ध करदे कि यह वही माल है जिस पर परवाना पहले लिया गया है तब तक परवाना बदला नहीं जा सकता था। परवानों के लेने में अधिकांश मामलों में बड़ी कठिनाई थी। और यही बात थी कि माल को छिपा कर ले जाने में और महसूल मार लेने की कोशिश करने में ज्यादा सुभीता और लालच था। इस बात को रोकने के लिये अनगिनत चौकियाँ बैठाली गयी थीं जहाँ जाँच हुआ करती थी और परवानों से माल का मिलान किया जाता था। कानून में तो यह लिखा था कि चुंगीघर से दो कोस से अधिक दूरी पर कोई चौकी न होगी! परन्तु व्यवहार में इस पर बिलकुल ध्यान नहीं दिया जाता था और चौकियाँ सारे देश में चुंगीघर से तीस तीस पैंतीस पैंतीस कोस की दूरी पर फैली हुई थीं। बीच बीच में बड़ी दुःखदायक रुकावटें और छोटे २ जुल्म जो चुंगी के अफ़सर और चौकीदार देशी व्यापारियों पर करते थे, उसका फल यह होता था कि बहुत जगह व्यापार करना अपराध सा हो गया। तंग करके घस लेना

सब जगह मामूली सी बात थी और जो चीजें कि चुंगीघर में जाँची जाती थीं और अनगिनत छोटी छोटी चौकियों पर देखी जाती थीं, उनका बारम्बार जगह जगह देर तक रोका जाना जरूरी था। उस समय भारतवर्ष में चुंगीघरों का जैसा व्यवहार था उसको जो लोग अच्छी तरह जानते थे उनका कहना था कि जितना तंग करके और जितने बेहद झंझटों में डाल कर अंगरेजों के राज में हिन्दुस्तान में चुंगी की नोचखसोट होती थी वह रूस, काबुल, पेशावर या बोखारे से कड़ाई में कहीं ज्यादा थी। जो लोग इन अत्याचारों से दरिद्र हो गये थे उन्होंने ऊँचे से ऊँचे स्वर से शिकायतें कीं पर उनकी कोई सुनाई न हुई। सर चार्ल्स ट्रेविलियन का कहना है कि नीच से नीच चुंगी के अफसर के काबू में बड़े से बड़े इज्जतदार आदमी को जब होना पड़ता था तब ऐसी दशा में निजी तौर पर व्यापार करने का पेशा अप्रिय और निन्द्य हो गया। पार्लियामेन्ट में बारम्बार अर्जियाँ पड़ीं पर चुंगीघरों की नोचखसोट ज्यों की त्यों जारी रही। बहुत तुच्छ आमदनी के लिये अत्याचार की एक भारी पद्धति का पोषण होता रहा। संवत् १८८२ की होल्टमेकेञ्जी की रिपोर्ट में और फिर संवत् १८९२ की लिखी रिपोर्ट में जो चार्लस ट्रेविलियन और लार्ड इलिनबरा ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी को दी थी, इन महसूलों को वसूल करने में जितने अन्याय किये जाते थे, उनका पूरा वर्णन है।

संवत् १८९३ में बङ्गाल में और संवत् १८९५ में बम्बई में संवत् १९०१ में मदरास में और सवत् १९०४ में और जगहों से इस तरह की चुंगी उठा दी गयी। मद्रास में एक अर्जी दी गयी थी

जिसमें एक महसूल की चर्चा है जो प्रायः सभी कारबारों और पेशों पर लगाया गया था और बुनकार, बढ़ई, लोहार, सोनार, कसेरे, दुकानदार या सड़क के किनारे खोंचे लगानेवाले सबको देना पड़ता था। इसका नाम महसूल "मुतरफ़ा" था। यह संवत् १९१० में रद्द किया गया। यह कितना कष्टदायक था इसका वर्णन मिस्टर जे. डब्लू. बी. डाइक्स मैजिसट्रेट और माल के अफ़सर ने यों किया है जिनको खुद मद्रास में यह महसूल उगाहना पड़ा था।

"यह महसूल उन सभी आदमियों से लिया जाता है जो खेती नहीं करते। एक बुढ़िया बाजार में तरकारियाँ ले जाकर गली के एक कोने में बेचती है तो उसकी तरकारियों पर कूत करके महसूल लगाया जाता है। अगर कोई कपड़े बेचता है तो उसे भी कर देना पड़ता है। परन्तु फिरंगी व्यापारियों को कुछ नहीं देना पड़ता। एक आदमी साल में कुछ ही रुपये कमा लेता है उसे भारी कर देना पड़ता है और उसी के बगल में एक फिरंगी सौदागर है जो सैकड़ों रुपये कमाता है पर उसे कोई महसूल नहीं देना पड़ता।"

इस छोटे से जुल्म में भी इतने भेदभाव का एक ही फल हो सकता है और वह यह कि देश के विशाल औद्योगिक संगठन को टुकड़े टुकड़े करके बिखेर डाला गया। महसूल मुतरफ़ा व्यापार की बहुत छोटी छोटी चीज़ों पर और कारीगरों के सस्ते से सस्ते औज़ारों पर लगता था। यह महसूल चर्खे पर भी लगता था। भारतीय सूती माल के ऊपर जब संवत् १९०५ में पार्लियामेन्ट की ओर से एक कमेटी बैठी थी उसके सामने यह बात विशेष रूप से कही गई थी। करघों पर भी इसी प्रकार महसूल बैठाया

गया। डाक्टर बुकानन दक्षिण भारत की आलोचना के संबंध में कहते हैं कि करघों पर एक महसूली स्टाम्प लगाया गया जिस पर सत्यमंगलम्, धर्मपुरी और कई और जगह के बुनकारों ने आपत्ति की थी। मुतरफ़ा की वसूली में जाँच के बहाने घरों और दुकानों तक में घुसने का बड़ा मौका मिलता था और सब तरह के कारीगरों और बनियों को तंग किया जाता था और उनसे अनुचित रक़में वसूल की जाती थी। संवत् १९१० में मद्रास की तरफ़ से जो पार्लियामेण्ट को अर्ज़ी दी गयी थी उसमें इस बात की चर्चा थी।

१७. गुलामी का युग

विक्रम की उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से भारत की दासता का युग आरम्भ होता है। भारतवर्ष के प्रति इंग्लिस्तान का व्यापारिक कूटनीति ने पहले तो रुकावट डाली, फिर दबाना आरम्भ किया और फिर अत्याचार करने लगी। इस तरह धीरे धीरे भारत की कार्य्य-दक्षता को घटाते घटाते मिटा डाला। जिस दिन से भारतवर्ष में इङ्गलिस्तान ने राजनीतिक अधिकार पाया उसी दिन से भारतीय व्यापार और उद्योगों को मिटा देने के लिये दृढ़ निश्चय के साथ काम करना शुरू कर दिया गया। उसके साधन संक्षेप से यह थे।

१—इङ्गलिस्तान के मुक्तद्वार व्यापार को भारतवर्ष में ज़बरदस्ती चलाना।

२—इङ्गलिस्तान में भारतीय माल पर भारी भारी कर लगा देना।

३—भारतवर्ष के भीतरी व्यापार पर भारी यात्राकर और चुंगियाँ लगाना।

४—भारतवर्ष से कच्चे माल का बिना कर के विदेशों में चालान करने को प्रोत्साहन देना।

५—भारतीय कारीगरों को भाँति भाँति की बाधाओं और रुकावटों के नीचे दबाकर काम करने को लाचार करना।

६—कम्पनी की लगायी हुई पूँजी को काम में लाने की पद्धति। ❀

७—भारतीय दस्तकारों को अपने पेशे के भेद बताने के लिये लाचार करना।

भारतवर्ष में जुल्म किया गया और इङ्गलिस्तान में भारतीय माल पर भारी कर लगाये गये कि भारतवर्ष की दस्तकारी का गला घोंटा जाय। अब भारत से इङ्गलिस्तान में रुई की आमद बढ़ गयी थी। और सूती माल की आमद बंद हो गयी थी। स्वयं भारतवर्ष में धीरे धीरे विलायती चीजें देशी चीज़ों का स्थान ले रही थीं। बहुत जगह बुनकार लोग बेकार हो गये थे और बहुत संकट और विपत्ति का सामना करना पड़ा था। पार्लियामेन्ट ने संवत् १८९७ में एक कमेटी बनायी कि वह इस बात की रिपोर्ट पार्लियामेण्ट के सामने पेश करे कि भारतीय उद्योगों को जो भेद भाववाले कर हतोत्साह कर रहे थे और कुचल रहे थे उनको उठा

❀ कहा जाता है कि संवत् १८५० से १८६९ तक उन्नीस वर्षों में भारत की आमदनी से साढ़े सैंतीस करोड़ रुपये युरोप में बिकने के लिये भारतीय माल खरीदने में खर्च किये गये। पर भारत को उसके बदले में कुछ न मिला।

दिया जाय या नहीं। इस कमेटी के सामने एक साक्षी के बाद दूसरे साक्षी ने बराबर एक दूसरे का समर्थन करते हुए कहा कि विलायत में भारतीय माल पर १०) सैकड़ा कर लगाना और भारत में विलायती माल पर केवल ३½ सैकड़ा कर लगाना ईमानदारी नहीं है। भारतवर्ष में जो घटनाएँ हो रही थीं उनसे यह बात बिलकुल प्रगट थी कि भारत की दस्तकारी नष्ट हुए बिना नहीं रहेगी।※

सम्वत् १८७० के बाद के वर्षों में विलायत के उद्योग ने बड़े लम्बे २ क़दम बढ़ाये। भाप के बल से चलनेवाले करघे संवत् १८९० तक एक लाख के लगभग हो गये थे। बीस वर्ष पहले दो हज़ार से कुछ ही अधिक रहे होंगे। उनके साथ ही दामों की दर जो पहले बहुत ऊँची थी अब बहुत गिर गयी थी। मिस्टर बेन्स का तो कहना है कि सूत और कपड़ों के दामों में संवत् १८६९ से १८९० तक में २५ से लेकर ८० तक के लगभग कमी आ गयी थी। अब माल बहुत सस्ता निकलने लगा था और भारत के सभी बाजार उनके लिये खुले हुए थे। इस तरह विलायती उद्योगों के सभी दिशाओं में पोबारह थे। ४० नम्बर के ऊपर के देशी और विलायती सूतों की जो दर संवत् १८९० में थी उनका मुक़ाबिला करने से मालूम होता है कि बीस बरस पहले जो दशा थी वह बिल्कुल उलट गयी है।

※ रमेशचन्द्रदत्त की Economic History (आर्थिक इतिहास) दूसरी जिल्द पृष्ठ १०१ पर जे. सी. मेलविल चार्ल्सट्रेविलियन और मान्टगोमरी मार्टिन की महत्व की गवाहियाँ दी हुई हैं।

सूत का नम्बर	एक पौंड के सूत का दाम	
	अंग्रेजी	भारतीय
४०	।।।=)।।	२।।≡)
६०	१।=)।।	४।।)
८०	१।।।=)।।।	६।।।≡)
१००	२।।)।	९।)
१२०	३)	१२।–)
१५०	४।।।≡)	१९=)
२००	१०।।।=)	२३।।।–)

ढाके की कारीगरी पर लिखते हुए डाक्टर टेलर ने भी तीस नम्बर के ऊपर के देशी और विलायती सूतों की दरों का मुक़ाबिला किया तो इन्हीं नतीजों पर आये। भारत में महीन सूत कतने की चाल ही उठ गयी। जो कुछ रहा वह मोटा सूत कातना रह गया। डाक्टर टेलर का कहना है कि संवत् १८९२ में देसी मोटे और मझोले सूत की ही बनाई देसी करघों पर होती थी पर करघे अब रूपए में तीन आने ही चलते थे। बाकी बेकार पड़े रहते थे। इस से प्रगट है कि मोटे सूत की कताई चल रही थी। एक तरफ़ अंग्रेजी माल सस्ता होगया और बारीक विलायती सूत बड़े ज़ोरों से देश में आने लगे और दूसरी तरफ कुछ वर्षों पीछे रेलों के जारी हो जाने से विदेशी माल की पैठ देश के कोने कोने में हो गयी और देशी उद्योग धन्धों के नाश का वेग और भी बढ़ गया। संवत् १८९७ से लेकर संवत् १९३६ तक के अंक इस बात की सूचना और साक्षी देते हैं कि भारतवर्ष दिन पर दिन विदेशी कपड़ों का कैसे

मुहताज हो गया और किस तरह देशी माल होड़ के वेग को सह न सका।

संवत्	भारत में आनेवाले कपड़ों की कीमत दसलाख गिन्नियों में	भारत से भेजी जाने वाली रूई दस लाख गिन्नियों में
१८९७ से १९०१ तक	३·१९	२·३४
१९०१ से १९०२ तक	३·७५	१·६८
१९०७ से १९११ तक	५·१५	३·१४
१९१२ से १९१६ तक	६·९४	३·११
१९१७ से १९२१ तक	१०·९२	१५·९६
१९२२ से १९२६ तक	१५·७४	२५·५८
१९२७ से १९३१ तक	१७·५६	१७·४१
१९३२ से १९३६ तक	१९·२१	११·२१

अब भारतवर्ष विदेशों में रूई का भेजनेवाला देश हो गया और साथही विदेशी कपड़ों का दिन पर दिन अपने देश में ज्यादह खपानेवाला हो गया। कोई ज़माना था कि यह देश उद्योगी गुणी बुनकारों की और सूत कातनेवालों की भारी आबादी थी और भाँति भाँति के सुन्दर और बारीक कपड़े संसार में चारों ओर भेजने के लिए भूमण्डल में इसका नाम था। ज़माना पलट गया। अब वही देश रूई का खेत समझा जाने लगा। अब उसका काम यह होगया कि जब कभी इंग्लिस्तान को ज़रूरत हो तब उसे रूई भेजे और बनानेवाले मालिक जितने कपड़े तैयार करके भेजें उतने सारे कपड़े ले लिया करे।

देशी उद्योग-रक्षा के लिये कुछ भी न किया गया। उलटे जब कभी यहाँ आनेवाले सूती माल पर कर बैठाने का प्रस्ताव हुआ तो ऐसे प्रस्ताव के विरुद्ध इंग्लिस्तान में बड़ा होहल्ला मचाया गया। संवत् १९१४ में लार्ड केनिंग ने जब प्रस्ताव किया था तो यही गति हुई थी। जब बृटिशराज ने इस देश की बागडोर अपने हाथ में ली तो पहले पहल जो अर्थसचिव भारत में आया वह यही आदेश लेकर आया कि रुकावटवाले करों में ऐसा फेर-फार करे कि अंग्रेज लोगों का असंतोष दूर हो जाय। कुफल यह हुआ कि भारतवर्ष में आनेवाले विलायती माल पर जो आयात कर लगते भी थे वह आधे कर दिये गये। विदेशी सूत पर पाँच रुपया सैकड़ा आयात कर था वह घटा कर साढ़े तीन रुपया कर दिया गया। असल मतलब छिपाने की भी कोई कोशिश नहीं की गयी। सर बारटल फ्रेअर कभी बम्बई में गवर्नर थे। पार्लियामेन्ट की एक कमेटी में संवत् १९२८ में गवाही देते हुए उन्होंने कबूल किया कि "**अगर विलायती सूत और कपड़े पर भारत में आयात कर बैठा दिया जायगा तो उनकी खपत कम हो जायगी और वहीं सूत और कपड़े तैयार होने लगेंगे।**"

आगे के वर्षों में बम्बई के मिलों के अभ्युदय से लंकाशहर जिस तरह ईर्षा की आग से धधक उठा और जिस तरह सम्वत् १९५३ में रूई पर बम्बईवालों के लिए अत्यन्त अन्याय के साथ कर बैठा दिया गया उसका वर्णन करना हमारे प्रस्तुत विषय के बाहर है। यहाँ इतना ही कह देना काफी होगा कि भारत और इँग्लिस्तान के स्वार्थ एक दूसरे के विरुद्ध थे और इंग्लिस्तान के स्वार्थ को मोटा करने के लिए भारत के स्वार्थ का खून किया गया।

१८. विलायती माल का भारत में भरा जाना

विदेशी कपड़ों का आयात सम्वत् १९३६ में जहाँ चालीस पैंतालीस का था वहाँ पचास वर्ष से कम ही में दस गुने से भी अधिक बढ़ गया है। आयात की ऐसी अनूठी बढ़न्ती के पीछे एक जानने लायक इतिहास है। बात यह हुई कि अंग्रेज़ माल तैयार करनेवालों के लिए भारत के बाजार के फाटक अच्छी तरह खोल दिये गये कि माल ला ला कर यहाँ खूब जमा करें और भरें। भारतीय बाजारों की रत्ती से रवा तक सभी बातें बड़ी होशियारी से और चालाकी से सीखी समझी गयीं। भारत का गुणी कारीगर कैसे अपने काम में इतनी अपूर्व सफलता पाता है इस रहस्य के जानने की उत्कट इच्छा दिन पर दिन तीव्र होती गयी। लगातार और बड़े यत्न और श्रम से यह कोशिश की गयी कि लंकाशायर का माल यहाँ के लोगों की पसन्द के अनुसार बनता रहे और मतलब को गाँठने में हर मौक़े पर सरकारी अफ़सरों से भी मदद मिलती गयी। लन्दन में संवत् १९०८ में एक भारी अन्तरराष्ट्रीय प्रदर्शिनी की गयी। इसमें भारत की कारीगरी के उत्तम से उत्तम नमूने संग्रह किये गये थे। प्रदर्शिनी के बाद डाक्टर जान-फार्व्स राइल को आज्ञा दी गयी कि एक संग्रहालय लन्दन में बने और उसमें भारत की कारीगरी के सभी नमूने रक्खे जायँ और यह सब खर्च भारतवर्ष के मत्थे ठोंका जाय। लंकाशायर के सभी माल को खपाने के लिए भारतीय माल की अबतक की बेहद ताकत की खोज का यह सबसे उत्तम उपाय था। इसे एक फार्व्स (राइल) ने शुरू किया और दूसरे फार्व्स (वाटसन) ने जो

भारत सचिव को भारतीय पैदावारों की सूचना देने के काम पर नियुक्त थे दस वर्ष पीछे भी जारी रक्खा। इन्होंने एक भारी ग्रन्थ लिखा जिसका नाम है "The Textile Manufactures and Costumes of India"। (भारत का पहिरावा और कपड़ों की कारीगरी) शायद इसी ग्रन्थ की चर्चा के साथ ७ सितम्बर सन् १८९१ के "पानियर" में एक अंग्रेज़ अफ़सर जे. वी. कीथ ने इस तरह लिखा था—

"सभी जानते हैं कि पेशेवाले अपने अपने रहस्य को बड़ी सावधानी से छिपाये रहते हैं। कोई डोल्टन के मिट्टी के बर्तनों के कारखानों में जाय तो वह लोग बड़ी विनय से जानेवाले की अवहेलना करेंगे और अपना रहस्य न जानने देंगे। पर भारतीय कारबारियों पर जब्र डाला गया और उन्हें कपड़ों के धोने इत्यादि अनेक काम के रहस्य मांचेस्टरवालों को बताने पड़े। विलायत के भारतीय दफ्तर के एक विभाग में बहुत ख़र्च लगा कर एक ग्रन्थ तैयार किया कि जिसमें भारत के दरिद्रों से मेनचेस्टर वर्ष में दो करोड़ नब्बे लाख रुपये वसूल कर सके। विलायती व्यापार मंडलों को इस अनमोल ग्रन्थ की प्रतियाँ बेदाम बांटी गयीं और हिन्दुस्तानी रिआया को उनका ख़र्च देना पड़ा। इसको आप अर्थशास्त्र कह सकते हैं पर बड़ी अद्भुत रीति से यह कुछ और ही (अनर्थशास्त्र) मालूम होता है।"

१९. फार्ब्स वाटसन की जांच

वाटसन के ग्रंथ में अंग्रेज कारीगरों को लाभ पहुँचाने के लिए भारतीय पहिरावा और उसमें लगनेवाले कपड़ों के आकार प्रकार, रंग

रूप छाया सबका जीता जागता चित्र खींचा गया है। वाटसन ने कुल ७०० नमूने इकट्ठे किए थे। इनमें भारतवर्ष की बनी हुई सभी चीज़ों के नमूने थे। धोतियाँ, साफे, साड़ियाँ, डुपट्टे, चद्दर, छींट, मलमल, रुई और रेशम के मिले हुए कपड़े सभी कुछ थे। यह एक व्यापारी संग्रह था जिसकी रचना इसलिए की गयी थी कि अंग्रेज कारीगर को दिखाया व समझाया जाय और वैसा ही काम कराया जाय। इन नमूनों से यह प्रगट किया गया कि कपड़ों के सम्बन्ध में भारत के लोग क्या क्या अच्छा और ठीक समझते हैं, किन किन चीज़ों की ज़रूरत होती है और जिन जिन नमूनों की नकल करनी मंजूर थी वह समझने व सीखने के वास्ते कारीगरों के सामने मौजूद किए गये। यह काम बड़ी पूर्णता से और बिल्कुल ठीक ठीक रीति पर किया गया। विलायत के सूती माल के कारबारियों को यह बात ठीक ठीक और सावधानी से बतायी गयी कि भारत में क्या क्या चीज़ें बिक सकती हैं और क्या नहीं बिक सकतीं। और भारत के लिए कौन माल तैयार करना चाहिये और कौन नहीं करना चाहिए। एक भी बिन्दु विसर्ग छोड़ा नहीं गया। साड़ी या चुनरी में जो बून्दें या बूटियाँ पड़ी हुई थीं वह उतनी ही सावधानी से गिने और देखे गये जितनी सावधानी से सूरज के धब्बे देखे जाते हैं। भारतीय कपड़ों के विवरण में से कोई बात बिसरायी नहीं गयी। पगड़ियों के भाँति भाँति के रंग, उनकी लंबाई, उनकी बुनावट, धोतियों के किनारे, मलमलों की मृदुता, हलकी और चमकीली बूटियाँ और यहाँ तक कि हर तरह के वह नाम भी याद कर लिये गये और लिख लिये गये जिनको अंग्रेज न तो समझ सकते थे और न जिनका उच्चारण कर सकते

थे। भारत में बड़े आदमी एक करोड़ से अधिक न थे। होशियार अंग्रेज कारीगर ने इन बड़े आदमियों की परवाह न की। उन्होंने तीस करोड़ भारतीय जनता को अपने ग्राहक बनाने का लक्ष्य अपने सामने रक्खा। कारीगर को समझाया गया कि सादे और सस्ते कपड़े बिक सकेंगे और वह भी जिन लोगों के पहनने के लिये बनाये जायँ उनकी पसन्द और उनकी जरूरतों का पूरा खयाल रखने से उनकी बिक्री अच्छी होगी। मिस्टर वाटसन लिखते हैं—

"आज भारतवर्ष हमारे लिए वह देश है जहाँ से कच्चा माल आता है। कुछ का हम दाम देते हैं और कुछ के बदले में हम माल देते हैं। परन्तु हम लोग भारतवर्ष से जो कुछ ख़रीदते हैं उसका दाम देने भर भारत हम से कभी नहीं खरीदता। इसका फल यह होता है कि हम लोगों क ।सदा अति अधिक सोना चाँदी बदले में देना पड़ता है जो हमारे पास लौटकर नहीं आता। वहाँ जाकर ऐसा गायब हो जाता है जैसे समुद्र में डाल दिया गया हो। हम लोग यहाँ से रुई, नील, कहवा और मसाले मँगवाते हैं और कपड़े आदि यहाँ की बनी हुई चीज़ों के रूप में जितना बन पड़ता है भारत के हाथ बेच देते हैं। पर यह बात भूलनी नहीं चाहिये कि एक समय था जब अधिकांश कपड़ा हमारे हाथ भारत ही बेचता था। ऐसी सम्भावना है कि कपड़े बनाकर बाहर भेजनवाले देश की स्थिति अब उसे कभी न मिल सके। यद्यपि यह कहना बहुत मुश्किल है कि भारत में मिलों का जो विस्तार हो रहा है उसका अन्त क्या हागा। भारत के मिल यह बिल्कुल नहीं चाहते कि उस देश की उन्नति में किसी तरह की बाधा डाली जाय और यह बात

तो साफ है कि चाहे कोई भी उसे दे भारत की महान जनता का कल्याण इसी में होगा कि उसे सस्ते से सस्ता कपड़ा मिले। अगर भारत को वहाँ के बुनकारों की बनायी हुई चीजों से ज्यादा सस्ती लुंगी, धोती, साड़ी और नयनसुख विलायती तैयार करके दे सके तो दोनों को लाभ होगा। भारत बहुत बड़ा उपजाऊ देश है। उसका लाभ इस बात में अवश्य होगा कि विलायत के तैयार माल को पाकर वहाँ के काम करनेवाले लोग खाली हो जायँगे और तुरन्त दूसरे और शायद इससे भी अधिक नफ़े के व्यवसाय में लग जायँगे"।

समय और अनुभव ने इस ज्योतिषी को झूठा ठहराया। अगर हम ज्यादा न कहें तो इतना तो जरूर कहेंगे कि इस अंग्रेज़ में कल्पना शक्ति बिल्कुल नहीं थी। इसके ध्यान में यह बात न आसकी कि कताई और बुनाई के विनाश से कितनी भयानक और व्यापक बरबादी का दृश्य देखने में आयेगा। लाखों दरिद्र स्त्रियाँ चरखा न कातेंगी और एक घरबैठे इज्ज़त के धन्धे से छुट कर बेकार रहजायँगी या गरीबी से लाचार होकर घर के बाहर काम ढूँढेंगी या कोई जोखिम का धन्धा उठालेंगी। हज़ारों बुनकार अपने देश में साहूकार की और विदेश के मिलवाले की दोहरी गुलामी में पड़ जायँगे और लाचारी दरजे करघों का काम छोड़ देंगे। कोई खेती करने लगेगा और कोई इससे भी कम टिकाऊ काम करने लगेगा। गाँव के संगठन की जड़ बड़े ज़ोरों से और एकाएकी उखड़ जायगी। यह सब बातें वाटसन के दिमाग़ में न आ सकीं। उन्हें एक ही बात साफ मालूम हुई कि विलायत के व्यापारी अपने यहाँ से नफे के साथ लुंगियाँ, साड़ियाँ, धोतियाँ और नयनसुख भेज सकते हैं। असल मतलब को छिपाने की

जरा भी कोशिश नहीं थी। भाषा में कोई बनावट नहीं है। वाटसन साहब फरमाते हैं—

"हम लोग भारत के नाम से जिस मुल्क को पुकारते हैं उसकी आबादी में लगभग २० करोड़ प्राणी हैं। उनमें अधिकांश चाहे बहुत कम कपड़े पहनते हों तो भी, जो उन सभों को कपड़े पहनाने के लिए ठेका मिल जाय तो संसार में शायद ही कोई कारीगर जाति इतने कपड़े दे सके। इसलिये यह तो बिल्कुल साफ है कि भारतवर्ष हमारा बहुत भारी ग्राहक हो सकता है। भारतवर्ष हमारा गाहक होकर भी अपने यहाँ के माल को खपा सकता है क्योंकि इतनी भारी आबादी के केवल एक छोटे से अंश को ही कपड़े पहनाने के लिये हमें लंकाशायर के करघों की संख्या दूनी कर देनी पड़ेगी। यह तो सम्भावनाओं की बात हुई परन्तु इस समय तो बिल्कुल उलटी ही बात हो रही है क्योंकि असल में तो भारतवर्ष इस समय हमारी बनायी चीज़ें बहुत कम खरीदता है।"

२०. भारतवर्ष एक भारी गाहक हो गया

इसमें क्या शक है कि भारतवर्ष को भारी गाहक होना ही था। उसके सब उद्योगों को नष्ट हो जाना ही था और जिन कारीगरों को कभी अपने इज्जतवाले रोजगार से दम लेने की फुरसत नहीं मिलती थी उन्हें ही अंग्रेज़ी व्यापार का लगातार शिकार बनकर दरिद्रता और बेकारी में घुल घुल कर मरना ही था। परन्तु वाटसन के देशवालों के निकट तात्कालिक प्रश्न यह था कि वह सब से अच्छा उपाय क्या है कि भारत को ज्यादा

खरीदने के लिये राजी किया जाय क्योंकि सं० १९२३ में भारतवर्ष उतना नहीं खरीदता था जितना कि लोभी विदेशी उससे ख़रीदवाना चाहता था। कताई के काम का दीया अभी टिमटिमा रहा था, बुझ नहीं गया था। देशी सूत की फिर भी अच्छी ही बिक्री होती थी। लोगों का उससे प्रेम सहज में हटाया नहीं जा सकता था। भारत का कारीगर अब भी रूप रंग बैठाने की ऐसी अद्भुत कला जानता था कि जैसे कानों के लिये मेल के स्वरों से सुननेवालों को अलौकिक आनन्द होता है, वैसे ही सुन्दर रूप-रंग आकार का वह ऐसा मेल पैदाकर देता था कि छबि देखते ही बनती थी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि चन्देरी और अरनी की सी मलमल कभी कभी फ़रमाइश पर ही तैयार की जाती थी। बारीक सूत और बारीक कपड़ों का बाजार देश में प्रायः नष्ट ही हो चुका था। देश के बड़े बड़े लोग कहीं कहीं उसका आदर करते थे, इसलिये कला बिल्कुल मिट नहीं गयी थी। कैप्टेनमेडोज़ टेलर इसी जमाने की बात कहते हैं कि मैंने हैदराबाद के पास नादेर, नारायन-पेठ आदि जगहों में देखा है कि कोठरियाँ या तहखाने बन्द करके और फर्श को पानी से अच्छी तरह तर करके उसके भीतर वैसा ही बारीक सूत काता जाता है जैसा ढाके में कतता था। अरनी और कारमण्डल के किनारे पर अब भी बहुत बारीक हाथ के कते सूत और उससे बुने हुए कपड़े मिल सकते थे। सूत की दस्तकारी के सम्बन्ध में मध्यप्रान्त की सरकार की सं० १९२४ की रिपोर्ट है। उसमें लिखा है कि अकोला, जबलपुर, और नागपुर की प्रदर्शिनियों में ऐसे कपड़े और सूत दिखाये गये थे। इतना बारीक सूत किसी बड़ी मात्रा में तो

मिल नहीं सकता था। परन्तु करघे पर बने बूटीदार कपड़ों में और ज़री के काम की चीज़ों में, चिकनदोज़ी में और गजी गाढ़ों में यह देश फिर भी अपना जोड़ नहीं रखता था। करघे पर और हाथ से बने हुए चिकन के बारे में मिस्टर वाटसन खेद के साथ लिखते हैं कि इस बात की कोई आशा नहीं मालूम होती कि यह चीज़ें विलायत में भारतवर्ष से सस्ती बन सकेंगी। पर उन्होंने अपने देश के कारीगरों से सिफारिश की कि चिकन-दोज़ी का काम सीखने की कोशिश करें क्योंकि कला की दृष्टि से भी यह उनके लिये बहुत उपयोगी होगा भारत को बारीक और बहुत सुन्दर सजाये हुए कपड़े तैयार करने के काम में मंजी हुई कोमल अँगुलियों की आवश्यकता थी और उनकी माँग भी आस पास की ही होती थी और वहाँ भी अत्यन्त थोड़ी होती थी पर गजी-गाढ़े की तो जनता को बड़ी जरूरत थी और यह अभी हाथ की ही कताई बुनाई से तैयार होते थे। ज्यादा सस्ते और टिकाऊ होते थे। विदेशी इसमें मुक़ाबला नहीं कर सकता था। सस्ते मोटे खद्दर की देश में बड़ी चाल थी। मिस्टर वाटसन एक बड़े महत्व की बात की चर्चा करते हैं। वह कहते हैं कि **" जिन वर्षों में अमेरिका में युद्ध हो रहा था, रुई का भाव बहुत ऊँचा चढ़ा दिया गया। इसलिये देशी खद्दर भी विदेशी गजी-गाढ़े के मुकाबले दूना महँगा हो गया, पर गरीब से गरीब आदमी महँगे खद्दर को ही पसन्द करते थे।"**

२१. संवत् १९२७ में मध्यप्रान्त में खद्दर

मध्यप्रान्त के अधिकारियों ने भी वही बात लिखी है। मिस्टर रिवेट कारनक पक्की तौर से कहते हैं कि "देशी खद्दर बड़ा मज-

बूत और टिकाऊ होता है। धोबी के पाटे की चोट सहज में सह लेता है, धूप, वर्षा और सर्दी से बचाता है। इसीलिये मिलों के बने हुये कपड़े उसे बाजार से निकाल बाहर नहीं कर सके। चिम्मूर परगमेंट में बहुत से अठवारी मेले लगते थे। उन्हीं में से एक मेले की चर्चा करते हुये लिखते हैं—

"यहाँ के व्यापार में खद्दर बड़े महत्व की चीज़ है। यह पूरे तौर से ढेड़ लोगों के हाथ में है, वही कातते हैं और वही बुनते हैं। कपड़ा मोटा और मजबूत होता है और उसे बरार के कुनबी किसान बहुत पसन्द करते हैं। यद्यपि अंग्रेज़ी कपड़े देखने में बड़े अच्छे लगते हैं पर उनके मुकाबले टिकाऊ नहीं होते इसीलिए कुनबी लोग उन्हें पसन्द नहीं करते। यहाँ के कुनबी दाल रोटी से खुश हैं और यद्यपि खद्दर इन दिनों महँगा हो गया है तो भी वह लोग बहुत ज्यादा खरीद रहे हैं। मेले में १११४ दुकानें लगी थीं। उनमें से ५२१ दुकानें कपड़े की थीं। इनमें भी विदेशी कपड़ों की पाँच ही दुकानें थीं। सौ से ज्यादा दुकानें कोठियों की थीं जो महीन कपड़े बेचते थे और साढ़े तीन सौ ढेड़ों की थीं जो मोटा खद्दर बेचते थे। जिन ढेड़ों ने अपना सारा माल बेच लिया, उन्होंने अगले अठवारे की कताई और बुनाई के लिये वहीं की रुई की दूकानों से रुई खरीद ली। वहाँ बिक्री के लिये रुई की पच्चीस गाड़ियाँ आयी थीं।"

बारीक कताई-बुनाई पर भी मिस्टर कारनक ने रिपोर्ट दी है। अकोले की प्रदर्शिनी का हाल लिखते हुए मिस्टर कारनक लिखते हैं कि "प्रदर्शिनी में इतना बारीक सूत दिखाया गया था कि दर्शकों को जल्दी विश्वास नहीं होता था कि यह सूत देश में ही

कता है और हाथ से कता है और उसी चकियानसी भद्दे चर्खे से कता है। यहाँ एक लच्छी दिखायी गयी थी जिसमें इतना महीन सूत था कि उसका आध सेर सूत लम्बाई में ११७ मील होता।"*

जो ढेड़ बारीक सूत कातते थे पहले बड़ी सावधानी से ठीक तरह की कपास चुनते थे। ओटी हुई रुई नहीं लेते थे। चर्खी से कपास का स्पर्श नहीं होने देते थे। वह बीज को हाथ से बड़ी सावधानी से निकाल कर अलग करते थे। बीस नम्बर से नीचे के मामूली सूत के लिये कपास चर्खी से ओटी जाती थी और फिर धुनिया धुन देता था। इस तरह बारीक और मोटा दोनों तरह का सूत कातते थे। पर हाथ की कताई-बुनाई की स्थिति बहुत अच्छी न थी। युरोप की बनी चीजें देशी व्यापार का स्थान ले रही थीं और जहाँ कहीं रेल की पटरी बिछती थी, देशी चीजों का बाज़ार पटरा पड़ जाता था। संवत् १९२० से १९२३ तक के मध्यप्रान्तों के अङ्कों से प्रकट होता है कि यद्यपि धीरे धीरे विदेशी कपड़े का आना बढ़ रहा था तोभी देशी कपड़े बहुत ज्यादह बनते थे और बाहर भेजे जाते थे।

संवत्	कितने मन देशी कपड़ा भेजा गया	कितने मन युरोप से आया
१९२०	७५३६२	२२५९१
१९२१	५४२७७	५८४९६
१९२२	५५०५२	२८४७०
१९२३	५२८९३	५९४०२

* यह सूत २४५ नम्बर के ऊपर का होगा।

संवत् १९२५ के मध्यप्रान्त के गजेटीयर में कुछ जिलों के अंक दिये हुए हैं जो मिलाने लायक हैं।

ज़िला	आयात खद्दर की कीमत	आयात विलायती कपड़े की कीमत	निर्यात खद्दर की कीमत	निर्यात विलायती कपड़े की कीमत
१—अर्वी	५३९९७)	३२६५०)	८५६२५)	१६३००)
२–वर्धा में देवली	१२३२८१)	१३७२२)	३७८०)	×
३—हींगनघाट	८५९७०६)	४४६१३)	१७७११४)	२६१६१)

बरहामपुर का जिला और शहर कपड़े के भारी बाजार थे। हाँ के आंकड़े तो नहीं मिलते हैं पर यह लिखा हुआ है कि वहाँ के बुनकार पाँच रुपये से दस रुपये महीने तक कमा लेते थे *। इसके सिवाय उनके परिवार के लोग कताई, रंगाई आदि बुनाई से सम्बद्ध मजूरी से और भी पैदा कर लेते थे। बुनकार को जब कोई काम न होता था तो वह साड़ियाँ या धोतियाँ बनाया करता था क्योंकि इनकी माँग बराबर रहती थी और पूंजी बहुत थोड़ी लगती थी। गजेटीयर में लिखा है कि "शहरवालों के लिए तो बुनकारों के परिवारवाले और दूसरे लोग भी सूत कातते थे। सब से अच्छा सूत ढेड़ लोग काता करते थे। पर मोटी सूत तो मामूली तौर से देश भर में हर जाति बिरादरी की स्त्रियाँ काता करती हैं। अब मोटा सूत बहुत ज्यादह कतने लगा है और

* उस समय के ५) से १०) मासिक, आजकल के कम से कम ३०) से ६०) तक समझे जाना चाहिये।

८

कहा जाता है कि बारीक सूत के लिये माँग दिन पर दिन घटती जाती है।"

२२. संवत् १९२७ में बम्बई की दशा

बम्बई की दशा तो उतनी अच्छी नहीं थी। कुछ जिलों में हाथ की कताई रह गयी थी बाकी में एक दम बन्द हो गयी थी। अहमदाबाद में भाफ के बल से चलनेवाली मिलें खुल गयी थीं। इसलिये गुजरात में हाथ के कते सूत की मांग बहुत घट गयी थी। खान्देश में चर्खा कातना गरीब औरतों का मुख्य रोजगार था। वह प्रायः लुप्त हो गया था।

परन्तु सूरत और धारवार के जिलों में फिर भी यह देखा गया कि शहर और देहात सभी जगह प्रायः सभी स्त्रियाँ घर के खर्च और बिक्री दोनों कामों के लिये चरखा कातने में लगी रहती थीं। सूत मोटा खद्दर बुनने के काम में आता था। निवाड़ और रस्सियाँ भी बनती थीं। और देहात के लोग तो मोटा खद्दर ही पहनते थे। कुछ तो यह बात थी कि हाथ की कती चीज़ बड़ी मज़बूत होती थी और कुछ इसलिये कि अपने पहिरावे में फेरफार पसन्द नहीं था। शहर की स्त्रियाँ भी बराबर देशी कपड़ा पहनती थीं। अधिकांश स्त्रियाँ नित्य पाँच घंटे से ज्यादा कातती थीं और घर की कताई के लिये विशेष करके बड़ी सावधानी से साफ़ की हुई रूई लेती थीं। वह अच्छी तरह से देख लेती थीं कि बीज, मिट्टी या पत्तियाँ रूई में बिलकुल न रह जायँ।*

---

* देखो बम्बई का गजेटियर संवत् १९३१। कहा जाता है कि धारवाड़ में नूलवती का दाम २।) लगता था।

२३. संवत् १६२७ में बंगाल की दशा

मिस्टर मेडलीकाट ने संवत् १९२७ के कुछ वर्ष पहले हाथ के करघों पर एक पुस्तक लिखी थी। उसमें वह लिखते हैं कि बंगाल में कपास की खेती वहीं स्थानीय कामों के लिये होती थी। यहाँ तक कि गावों के बाज़ारों में भी बिक्री के लिये नहीं आती थी। जो खेती करते थे वही कातते थे और पास के बुनकार से बिनवाकर आप पहनते थे और परिवारवालों को पहनाते थे।

मैनचस्टर की होड ने तो बहुत पहले ही ढाके की मशहूर मलमल को नष्ट कर दिया था। और अब तक बहुत जगह स्थानीय बुनाई को निकाल बाहर कर रहा था और बुनकार लोग बड़ी तेजी से खेती की ओर चले जा रहे थे। उसी समय के लगभग की बात पंजाब के बारे में लिखते हुए सर आर. वेडन-पावल का कहना है कि मैंने सभी जगह बुनकारों की दूकानें देखीं जो कम से कम गज़ी गाढ़ा तैयार करने में लगे हुए थे जिन की ज़रूरत बड़ी मात्रा में सब तरह के लोगों को पड़ती थी।

२४. मद्रास में हाथ के करघे के काम पर होड़ की प्रतिक्रिया

मालूम होता है कि सारे भारत में साधारण स्थिति यह थी कि मोटे खद्दर की चाल भीतरी ज़िलों में बराबर बनी रही। सभी जगह अब तक खद्दर का रिवाज था। पर उसमें भी अब कमी प्रगट हो रही थी और हाथ के कार्य के उद्योग पर इस अवस्था से भी विशेष प्रभाव पड़ा था। मद्रास के बोर्ड माल ने

सं० १९२७ में वहाँ के हाथ करघों की गिनाई की थी उसका स्थिति पत्र मौजूद है। संवत् १९७८ की मर्दुमशुमारी से जो गिनती मिलती है उसका मुक़ाबला संवत् १९२७ वाली गिनती से करने पर यह बात पूरे तौर पर सिद्ध हो जाती है कि कम से कम एक प्रान्त में संवत् १९२७ से सम्वत् १९७८ तक में किस हद तक हाथ के करघे पर बुननेवालों का रोज़गार छिन गया है।

संवत्	मद्रास हाते की आबादी	करघों की कुल संख्या	देहात में करघों की संख्या	शहर में करघों की संख्या	कहाँ का सूत काम आया
१९२७	३,००,००,०००	२,७९,२२०	२,२०,०१५	५९,२०५	$\frac{1}{3}$ विदेशी $\frac{2}{3}$ स्थानीय
१९७८	४,१०,००,०००	१,६९,४०३	(विवरण अप्राप्य)		लगभग सभी विदेशी या मिल का

इस तरह से मद्रास हाते में एक लाख से ज्यादा हाथ के करघे घट गये। आबादी में जो बढ़ती हुई है उसका हिसाब लगाने से करघों की संख्या की कमी सैकड़ा पीछे ६० के हो जाती है। इन संख्याओं पर और भी विचार किया जाता तो और भी काम की बात निकलती और पता लगता कि शहर के और गाँव के करघों की संख्या की निष्पत्ति आजकल क्या है। संवत् १९६८ के मद्रास की मर्दुमशुमारी की रिपोर्ट में श्री मिस्टर चैटर्टन ने यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि संवत् १९२७ से देशी करघे के बुनकारों की संख्या प्रायः घटी बढ़ी नहीं हैं, स्थायी है। हाँ, उनमें से अधिकांश को पेट भर रोटी मात्र के लिये घोर परिश्रम करते रहना पड़ता है। परन्तु उनके निष्कर्ष भ्रमात्मक हैं। उसका कारण यह है कि भिन्न २ वर्षों की मर्दुमशुमारी की रिपोर्ट में

व्यवसाय के खाने में जाति लिख दी गयी है या इसी तरह का भ्रमात्मक और अशुद्ध वर्गीकरण कर दिया गया है और उनके निष्कर्ष इन्हीं खानों की संख्या पर अवलंबित हैं। इसलिये वह भी भ्रमात्मक हैं।

करघों की संख्या की घटी पर वह कोई विचार नहीं करते हैं। यद्यपि यह उन्हें मालूम होना चाहिये था कि बुनाई के कार-बार का सच्चा हाल जानने का सच्चा साधन करघों की संख्या ही है। यह प्रकट है कि प्रायः गाँव के बुनकारों को लाचार हो कर या तो अपना रोजगार छोड़ देना पड़ा है या गाँव छोड़ कर शहर में जाकर दूसरों के पंजों में फँस जाना पड़ा है। खबर तो यह है कि बहुत से लोग अपना घर छोड़ कर भाग गये और दूर देश में बस गये या कुली बनकर शहरों में या चाह आदि की खेतियों में मजूरी करने लगे। मद्रास के बुनकारों को सब से ज्यादह चोट लगी है और यदि उनमें से बहुत से अपने करघों में लगे हुए हैं और किसी तरह पेट पाल लेते हैं तो इसका कारण यह है कि अब तक उस प्रान्त के नरनारियों में मिल की बनी धोतियाँ और साड़ियाँ पहिनने की चाल बहुत ज्यादा नहीं फैली है। विदेशी कपड़े की आमद से हर साल बराबर अपने यहाँ का बुनकारी का धंधा वस्तुतः घटता गया है। विदेशी या मिल के सूत के आने से भी हाथ करघे पर बुननेवाले का कोई लाभ नहीं हुआ है और उस से वह खुशहाल नहीं रहा है, बल्कि उलटे इसी सूत की बदौलत स्थानीय लाभ उठानेवाले चालाक व्यापारियों के फंदे में फँसना पड़ा है। हाथ की बुनाई की घटी के कारण ढूँढने को दूर नहीं जाना होगा। संवत् १९३६ के शासन की

रिपोर्ट में मदुरा में बुनाई की दशा की चर्चा करते हुए मद्रास की सरकार ने इन कारणों को गिनाया है। देखिये, बुनकार की आमदनी क्यों घट गयी, इस पर बहस करते हुए रिपोर्ट में कहा गया है—

"स्थानीय बुनाई के व्यवसाय पर विलायत से बनकर आये हुए माल का किस तरह प्रभाव पड़ा है, इसका एक अद्भुत उदाहरण है। वह यह है कि मदुरा नगरी के बुनकार अपने बुने हुए कपड़े खुद नहीं पहनते। मामूली तौर पर यह कहा जा सकत है कि दिन पर दिन यह व्यवसाय काम करनेवाली जातियों के लिये भी कम लाभकर होता जाता है। उसके कारण तो प्रत्यक्ष हैं। कुछ बरस हुए जब विदेशों से कता हुआ सूत नहीं आता था तब शायद दो से तीन हजार तक ऐसे परिवार जो जो सूत की कताई ही में लगे हुए थे। अब तो यह व्यवसाय बिलकुल बंद हो गया है। जब तक लैस या कलाबत्तू आदि बाहर से नहीं आते थे तब तक पाँच सौ मुसलमान परिवार इसी के व्ययसाय में लगे रहा करते थे। अब उनकी जगह पर देशी कलाबत्तू बनाने वाले दस ही परिवार रह गये होंगे। अभी साल ही दो साल बीता होगा कि रंग के पदार्थ इसी ज़िले में बनते थे। परन्तु अब इनकी जगह बम्बई के रंगों ने ले ली। जब यह सब व्यवसाय बंद हो गये तो उसका आवश्यक फल यह हुआ कि सब लोग एक ही दिशा में केवल बुनने के काम में लग गये, इसीलिये बुनाई बहुत सस्ती हो गयी। बुनकार की असल मजूरी बहुत गिर गयी और बहुत से बुनकार खेती-करने लगे, क्योंकि वन्हें बुनकारी व्यवसाय से खाने को नहीं मिलता था। कुछ बुनकार गाड़ी और बैल रखने लगे और इमारती काम के लिये नदी से बालू ढो ढो कर पहुँचाने लगे।"

आज भी सेलम ज़िले के भीतरी भाग के बड़े होशियार बुनकार त्रिचनापल्ली में गाड़ी खींचते दिखाई पड़ते हैं।

२५. विदेशों में रुई भेजनेवाला भारतवर्ष

जिन परिस्थितियों ने कताई बंद करा दी अधिकांश उन्हीं परिस्थितियों से करघों की संख्या भी घट गयी। इस तरह कताई और बुनाई के व्यवसाय के अत्यन्त घट जाने पर देश में जो रुई की खेती होती थी उसका उपयोग इतना ही रहा कि या तो विदेशों में भेजने के लिये या मिलों के हाथ बेंचने के लिये कच्चा माल समझा जाय। रुई का घर-गिरस्ती के कामों में जो महत्व था वह अब नष्ट हो गया। कताई का घरेलू धंधा लोग भूल गये। इसके विचित्र परिणाम हुए। संवत् १९२३ के बाद के तीस वर्षों में यद्यपि कपास तिगुने क्षेत्रफल में बोयी जाने लगी तथापि विशेष क्षेत्रों में फ़सलें स्थानीय हो गयीं। फल यह हुआ कि कुछ भागों में जहाँ कपास बोयी जा सकती थी और बोयी जा रही थी वहाँ उसकी बोवाई बंद हो गयी और दूसरे भागों में उसी का उलटा हुआ। और चीज़ों की खेती की जगह कपास की खेती होने लगी। बंगाल में पहले कपास की खेती बहुत ज़ोरों से होती ही थी यद्यपि व्यापार के ढंग पर नहीं होती थी। वहाँ एक या दो ज़िलों को छोड़ कर कपास होती ही न थी। मध्यप्रान्त के गजेटियर में लिखा है—

"मामूली तौर पर वरधे के ज़िले में और बरार के ज़िलों में जहाँ हमेशा कपास बोयी जाती थी संवत् १९२३ के लगभग ही इसकी खेती अत्यन्त बढ़ गयी। यहाँ तक कि

जिन जगहों पर अनाज बोया जाता था उनमें भी कपास बोयी जाने लगी। नागपूर के ज़िले में भी यही बात देखी गयी यद्यपि बरार की अपेक्षा कम थी। नागपूर में इसकी खेती दूनी हो गयी।"

दक्षिण के लहरीले रेतीले मैदानों में सब गोचर-भूमि कपास की खेती में लग गयी। इस प्रकार इस खेती की बाढ़ ने हजारों एकड़ गोचर-भूमि को हज़म कर लिया। रुई के सट्टे से दाम ऊंचे उठने लगे और किसान ने देखा कि रुई के व्यापार में बड़ा मुनाफा है और कपास लोढ़ने के पहले ही बेची जा सकती है। किसानों में इस विचार को प्रोत्साहन देने में गवर्नमेन्ट ने बड़ी मदद दी। जिन दिनों अमेरिका में युद्ध हो रहा था, लंकाशायर की आवश्यकता पूरी करने के लिये वहाँ बहुत बड़ी मात्रा में रुई भेजनी थी। इसी मतलब से सरकार ने विशेष परिश्रम से कपास की खेती बढ़ाने में प्रोत्साहन दिया। जहाँ तक लंकाशायर का संबंध था वहाँ तक तो यह प्रयोग असफल रहा, परन्तु एक फल यह हुआ कि भारतवर्ष में थोड़े काल के लिये रुई का भाव ज़बरदस्ती चढ़ाया गया। इसके बाद तो रुई प्रधान रूप से बाहर भेजने वाली चीज़ ही रह गयी। हमारे देश में कपास की कई उत्तम जातियाँ थीं। इनमें से बहुत सी निर्बल हो गयीं और बहुतेरी नष्ट हो गयीं। क्योंकि अब चरखे की चाल उठ गयी थी और किसान को अब बढ़िया रुई पैदा करने की चाह न थी। वह तो यही देखता था कि कौन रुई तौल में अधिक पैदा होती है और रुपये ज्यादा दिलाती है, गुणों में चाहे वह कैसी ही हो। संवत् १९२७ के बाद इंग्लिस्तान जो कुछ हिन्दुस्तान से लेता था विशेष कर और

२ जगह बेचने के लिये लेता था। जापान और चीन में तो भारतीय रुई के लिये बहुत जल्दी नये बाजारों का विकास हो गया। देश में मिलों का व्यवसाय बढ़ रहा था, उसमें भी रुई खपने लगी। इंग्लिस्तान तो अब तक भारतवर्ष की परीक्षाओं के लिये बड़ा विशाल क्षेत्र समझा जाता था। आज भी यद्यपि अपने काम के लिये अमेरिका और मिश्र की रुई का सब से अधिक भरोसा करता है तोभी उसने यह विचार छोड़ नहीं दिया है कि अपने यहाँ के मिलों के उपयुक्त लम्बे रेशेवाली रुई पैदा करावे। संवत् १९६६ में जो भारतीय रुई पर कमेटी बैठी थी, उसका एक मात्र उद्देश्य इसी प्रश्न का निपटारा था कि जब किसी न किसी दिन अमेरिका से रुई मिलने में कठिनाई पड़ने वाली ही है तो कौनसा उपाय सब से उत्तम होगा कि जिससे विलायत को इस विषय में आगे अमेरिका का अवलम्बन न ढूंढना पड़े। कमेटी के सामने जो गवाहियाँ गुजारीं उनका सारांश तो यह था कि भारतीय किसान को लम्बे रेशे की रुई उपजाने में कोई लाभ नहीं है इसलिये वह ऐसी रुई की खेती न करेगा, क्योंकि वह जिन कपासों की खेती करता है वह छोटे रेशेवाली होने पर भी ज्यादा होती हैं और ज्यादा पैसे लाती हैं। इतने पर भी कमेटी ने यही निश्चय किया कि ऐसे उपाय और साधन ढूँढ़ निकालने चाहिये कि लम्बे रेशेवाली कपास की खेती होने लग जाय। केवल लंकाशायर के ही लाभ के लिये सिंध और पंजाब में विदेशी कपासों की खेती की परीक्षा हो रही है। मद्रास में भी कुछ भाग पर बहुत कुछ ध्यान दिया जा रहा है और इसी मतलब से अच्छी देशी कपासों की उन्नति

करायी जा रही है। भारत को विलायत की जरूरतें पूरी करनी हैं और हमारा यही काम होना चाहिये और अभी तो कल की बात है कि लम्बे रेशे की कपास की खेती के विषय पर सम्वत् १९७६ के औद्योगिक कमीशन ने तो कह ही डाला कि "संसार के कपड़े के रोज़गार की दृष्टि से और विशेष करके महाबिर तानिया की दृष्टि से इस परीक्षा के फल की प्रतीक्षा में हम ठहर नहीं सकते, क्योंकि यह बहुत आवश्यक और शीघ्रता का काम है।"

२६. 'रेलों की' ओर से धक्का

भारत को विदेशी कपड़ों का एक बहुत भारी ग्राहक और रुई का एक भारी उपजाने और भेजनेवाला बनाने में अंगरेज़ी सरकार ने जितने काम किये हैं उनका हमने दिग्दर्शन कराया है। परन्तु सूत और कपड़े के व्यवसाय के ऊपर रेलों के चलने का जो प्रभाव पड़ा है, उसका वर्णन बिना दिये यह दिग्दर्शन अपूर्ण रह जायगा। जब लार्ड डलहौज़ी ने भारतीय रेलों पर अपनी प्रसिद्ध रिपोर्ट लिखी उस समय उन्होंने यह उद्देश्य नहीं छिपाया कि यहाँ रेलों के चलाने का ख़ास मतलब यही था कि उनके द्वारा आसानी से रुई विलायत भेजी जा सके और विलायत के बुने कपड़े हिन्दुस्तान में लाये जा सकें और देश के कोने २ में फैलाये जा सकें। जी. आई. पी. रेलवे की पहिली नींव रखने वाला जान चैपमेन था। उसने संवत् १९०८ में भारतीय रेलों के ऊपर एक पोथी ही लिख डाली। इस पुस्तक का एक मात्र उद्देश्य यही था कि इस बात पर अच्छी तरह विचार हो कि रेल की पटरियाँ कैसे बिछाई जायँ कि भारत की रुई ले जाने में सबसे ज्यादा

सुभीता हो। संवत् १९०८ में इसी देश में सवा करोड़ से लेकर पौने चार करोड़ मन तक रुई खर्च हो जाती थी और केवल साढ़े सैंतीस लाख मन तक बाहर जाती थी, अर्थात् रुपये में आने दो आने से ज्यादा बाहर नहीं जा पाती थी। रेलों के चलने के बाद ही रुई की खपत भारतवर्ष में बड़ी जल्दी २ घट गयी और जब रेलों ने व्यापार को बढ़ा दिया और रुई तेजी से बाहर भेजी जाने लगी तो उसका प्रत्यक्ष फल यह हुआ कि रुई की दर बहुत जल्दी चढ़ गयी। दर चढ़ जाने से किसानों के हाथ में पैसा ज्यादा आने लगा और वह बाहर भेजने में मुनाफ़ा समझने लगे। चैपमैन ने लिखा है कि संवत् १९०० में रुई तीन आने सेर बिकती थी। संवत् १९०८ में चार आने सेर हो गयी और बारह बरस पीछे छः आने सेर हो गयी। रेलों ने उनका और भी लाभ निकाला। देश के बिलकुल भीतरी भागों में उन्हीं की बदौलत विलायती कपड़ों ने सहज में बाजारों को हथिया लिया। इङ्गलिस्तान का बना हुआ माल रेलें कोने कोने में और दूर दूर पहुँचाने लगीं और देशी कला, कौशल और व्यवसाय का सर्वनाश कर डाला। अक्सर यह बहस की जाती है कि रेलों ने जो इस देश में एक तरह का आर्थिक विप्लव किया है उससे उन्होंने कोई हानि नहीं की है बल्कि उलटे उसके व्यापार को लाभ ही पहुँचाया है। पर इस बहस की माया आसानी से दूर की जा सकती है। श्री एच० के० कार्नवेल ने इंगलिस्तान के आर्थिक विप्लव का भारतवर्ष के आर्थिक विप्लव से मोकाबिला करके इस बात की बड़ी योग्यता से अटकल की है कि भारतवर्ष को कितनी हानि पहुँचायी गयी। उन्होंने लिखा है—

इंग्लिस्तान में जो आर्थिक विप्लव हुआ है वह वहां की स्वदेशी शक्तियों के बल से हुआ है। देश में गड़बड़ी की अवस्था में पूंजीवाले अपने पुराने क्षेत्र को छोड़ कर नये क्षेत्र में गये और मजदूर भी पुराना काम छोड़ कर नया करने लगे। बाहरी फेर बदल के साथ साथ भीतरी व्यवसाय भी बदल गया। इस गड़बड़ के युग के बीत जाने पर नयी स्थिरता की दशा स्थापित हो गयी है। यह सच है कि इंग्लिस्तान के पूंजीवालों के हाथ से उनका पुराना कारबार निकल गया। पर साथ ही उन्हें नया और अधिक अच्छा कारबार मिल गया। मजदूर लोग पुराने व्यवसाय से निकल कर नये और अधिक विस्तीर्ण क्षेत्र में काम करने लगे। परन्तु भारतवर्ष में क्या हुआ? यहाँ बड़े लोग पहले हाकिम, सिपाही, बड़े २ अफ़सर आदि की हैसियत से काम करते थे और उनकी अच्छी आमदनी थी। वह सब खो बैठे। रेलें जो नयी नयी चलीं तो उससे किसानों को तो कोई बदले की आमदनी नहीं हुई। वह लोग सारे देश में कई करोड़ों की संख्या में खेतीबारी के सिवाय जो पुराने उद्योग और व्यवसाय में लगे थे विदेशी होड़ उसे धीरे धीरे नष्ट कर रहा है। इसके सिवाय विदेशी होड़ की बदौलत उनके ऊपर सहज ही अड़तालीस करोड़ रुपये का कर लगाया जा सका और यह कर इस बहाने से उनकी जेब से निचोड़ा गया कि आवाजाई की आसानी पैदा की जायगी और देश का फाटक अबाध व्यापार के लिये खोल दिया जायगा। परन्तु इन नयी गाड़ियों के सहारे असहाय ग़रीबों का तो रुपया उन्हें सब्ज़बाग दिखा कर ठग लिया गया यद्यपि रेलों ने किसी तरह पर उनके दुःखों को नहीं घटाया।"

२७. रुई का निर्यात और अनाज का भाव

यह भूलना नहीं चाहिये कि जहाँ बरसों तक बराबर रुई का भाव चढ़ता रहा है वहाँ बहुत कुछ उसी के कारण उसी अनुपात से अनाजों का भाव भी चढ़ता रहा है। संवत् १९४७ से संवत् १९८१ तक कपास और अनाज की खेती में जितने एकड़ जमीन लगी थी उनका मिलान करने से यह मालूम होगा कि कपास की खेती अनाज की अपेक्षा कितनी बढ़ गयी है।

संवत्	दस लाख एकड़ों की इकाई में कपास	औसत खेती अनाज
१९४९	८·९४५	१८६·७६१
१९७७	१५·३१८	१९९·६६७
१९८१	२६·४८	२१०·०००

सम्भव है कि ज्यों ज्यों आबादी बढ़ी है त्यों त्यों अनाज की खेती भी बढ़ी है। पर भारतवर्ष संवत् १९४९ में जिस तरह आधा पेट खाता था, वैसे ही आज भी आधा ही पेट खाता है। रुई और दूसरी व्यापारी फसलें बढ़ती ही जा रही हैं और ऐसे समय भी आ गये हैं कि लोग कपास, पटसन आदि की खेती करके भूखों मरे हैं। इङ्गलिस्तान के सराफे और रुई के बाजार की ऍचपेंच की चालों का प्रभाव भारतवर्ष के दूर दूर के कोनों में भी पड़ा है और बाहर भेजने के लिये फसल उपजाने का पागलपन हर साल बढ़ता जा रहा है।

२८. गांवों की बरबादी

भारतवर्ष के आर्थिक जीवन की सच्ची नींव गाँवों में थी। वह बदल कर शहरों में आ गयी। गाँवों की घर-गिरस्ती बरबाद हो गयी। हर तिजारती शहर के लिये जो भारतवर्ष में पैदा हो गये, गाँवों के सैकड़ों घर उजड़ गये और गिरकर मिट्टी में मिल गये। भारतवर्ष में जब बृटिश राज्य हो गया तो कताई का व्यवसाय बरबाद हो गया। मतलब गाँठनेवाले विदेशियों की बेई-मानी और लालच का शिकार हो गया। चरखे कोने में पड़े सड़ने लगे या चूल्हे में जला दिये गये। जब विदेशी और विशेषकर अंगरेजी कपड़ा बिना रोकटोक के देश में भरने लगा और दस्त-कारों के ऊपर जुल्म किये जाने लगे तो कताई का अंत हो गया। बाज़ार करने और लाने ले जाने की अत्यन्त आसानी हो जाने से अवस्थाएँ इतनी तेजी से बदलने लगीं कि कताई को सँभलने का मौका न मिला। यह परिणाम अनिवार्य्य था। इतिहासकार विलसन ने लिखा है—

"बहुत पहले संवत् १८६३ में ही पार्लियामेण्ट में कम से कम एक अंगरेज़ ने तो ऐसी अपूर्व बात कह डाली थी जो आज दिन बिलकुल सच्ची ठहर रही है। उसने पार्लियामेन्ट में कहा कि जब भारतवर्ष से बहुत काफी कच्चा माल आने लगेगा तो जो जमाना मैं धीरे धीरे आता देखता हूँ वह जल्दी आ जायगा। उस जमाने में भारत के रहनेवाले विलायत से अपनी ही रुई के बने कपड़े पावेंगे और बनवाई, बीमा, कमीशन, एजेन्सी और ढुलाई आदि सभी कामों के नफे इङ्गलिस्तान को देंगे।"

अगर गवर्नमेण्ट की नीति देशी कारीगरी की रक्षा की होती तो

पच्छाही बुद्धि कितनी ही उत्तम कलें तैयार करके सामना करतीं तब भी चरखे की कताई हमारे यहाँ जीवित रहती। पर यह तो होनी ही न थी। करोड़ों की दरिद्रता की नींव पर ही अङ्गरेजी व्यापार के महल को खड़ा होना था। एक समय में बर्क सरीखे अँगरेजों को आशा थी कि बृटिश राज्य की स्थापना से गरीब मेहनती किसान की हाँडो में नित्य एक मुट्ठी चावल पड़ जाया करेगा। परन्तु आज जो परिणाम प्रकट है, वह तो यह है कि बृटिश राज्य के पहले जो चावल हाँड़ी में था वह भी मृगतृष्णा की तरह गायब हो गया।

तीसरा अध्याय

हाथ की कताई बुनाई से क्या क्या हो सकता है? भारत के मिल व्यवसाय से उसका मिलान

१. बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध का आरम्भ

बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हम ज्योंहीं कदम रखते हैं तो देखते हैं कि भारत विदेशी और भारतीय मिल के बने कपड़ों में डूब रहा है। लोगों का रोजगार हाथ की कताई नष्ट हो गयी है। कहीं कहीं जो चरखा चलता भी है तो वह इस बात की गवाही देता है कि हम किस भारी बरबादी से बची हुई पुरानी निशानी हैं। जो सुन्दर हाथ के कते हुए सूत के बने कपड़े किसी ज़माने में बहुत लोकप्रिय थे वह बाज़ार से निकाल बाहर कर दिये गये हैं। हमारे गाँव के कारीगरों का व्यवसाय और कारबार अब कहीं देखने में नहीं आता। आज भारतवर्ष संसार का वह पहलेवाला भारी कारीगर नहीं रह गया है। अब वह दूसरे को कपड़े नहीं पहनाता। अब उसे खुद विदेशों से मोटा, महीन, सफेद, रंगीन सभी तरह का कपड़ा बहुत बड़ी मात्रा में मिलता है। विदेशी शिकारियों के लिए यह भूमि अहेर की जगह हो गयी है। बड़े

भारी २ राजनीतिज्ञ लोगों ने किताबें लिखीं और गरीब की झोंपड़ी की बरबादी का रोना रोये पर उनमें से किसीने देखने में पुराने व्यवसाय को फिर से जिलाने का प्रश्न अपने सामने नहीं रक्खा। जो अर्थशास्त्रीय विचार रवाज की तरह चल रहे थे उनमें इस बात की गुंजाइश न थी कि जिनको वह भद्दे दकियानूसी और गयेबीते औजार कहते थे उन्हें फिर से काम में लाने का विचार करें। ख्याल तो यह किया गया कि किसी बीते युग की बात को फिर से चलाने में कोई लाभ नहीं है। चरखे के ऊपर आँसू गिराना बेकार है। अब तो हमें अपनी वर्तमान अवस्थाओं के अनुकूल रीतियों से स्वदेशी का निर्माण करना चाहिये और कमर कस लेना चाहिये। वह हमारी वर्तमान अवस्थाएँ क्या हैं? वह यह हैं कि यंत्र के संसार में इस समय बहुत नयी २ ईजादें हुई हैं और बाज़ार में हाल में जो साख के सुभीते पैदा हुए हैं उन्हीं के साधनों से भरसक काम लेना और यंत्रों के सहारे स्वदेशी को चलाना वर्तमान काल के अनुकूल है।

२. चरखे का पुनर्जीवन

इसमें संदेह नहीं कि स्वदेशी आन्दोलन से राष्ट्र को यह मौक़ा मिला कि अपनी स्थिति के भीतर निगाह डाले, असलियत को टटोले। लोगों को लाचार हो समझना पड़ा कि जैसी हमारी प्रवृत्ति और परिस्थिति है ठीक उसी के अनुकूल हम बढ़ भी सकते हैं। लोग इस बात से भी खबरदार हो गये कि अब हम सीधे सर्व-नाश के गड्ढे में न गिरें और जिस तरह पर हमको ज्यों त्यों जीता रक्खा जाता है उस विधि से बचें। राष्ट्र को धक्का लगा

और उसे चेतना पड़ा कि अपने ही बल पर निर्भर रहें। फल यह हुआ कि राष्ट्र में स्वावलम्बन के नये विचार फैलने में भारी प्रोत्साहन मिला। बहुत गंभीरता से इस बात पर विचार होने लगा कि भारत की कला और कारीगरी फिर से किस प्रकार जिलायी जाय। हाथ के करघे के व्यवसाय को सहायता पहुँचाने के उपायों का बड़ी योग्यता और बहुत ज़ोर से समर्थन किया गया। कला के प्रसिद्ध प्रेमी हावेल और आनन्दकुमार स्वामी के लेख इसके उदाहरण हैं। बस, इतनी बात के सिवा जहाँ तक कपड़ों का नाता है, देश में सब लोगों की निगाहें केवल स्वदेशी मिल के व्यवसाय की ओर लगी हुई थीं। अर्थ-शास्त्र पर जितने ग्रंथ थे इसी मिल-व्यवसाय को बढ़ाने और सुरक्षित रखने के लिये बाधक कर, लेनदेन और साख संबंधी क़ानून और दूसरे चालाकी के ढंग, विस्तार से बताये गये थे और उन पर विचार किया गया था। राष्ट्र की निगाह में तो अभी चरखा आया ही न था, भारत के राष्ट्रीय जीवन में चरखे का प्रवेश कराना महात्मा गांधी का ही अनोखा और विशिष्ट काम है। महात्माजी का चित्त सदैव खोज और आत्म-परीक्षा की ओर लगे रहने का आदी है। वह निरंतर करोड़ों गरीबों की स्थिति में अपने को रख कर सोचा करते हैं और उनकी पीड़ा घटाने की सदा उनकी इच्छा रहती है। ऐसी दशा में उनके आत्मदेव का चरखे की ओर रुजू होना स्वाभाविक ही है। सम्भव है कि बहुत बरस हुए जब उन्होंने रसकिन और टालस्टाय की पुस्तकों का अनुशीलन किया था उसी समय जनता के लिये कोई व्यवसाय ढूँढ़ने का विचार उदय हुआ हो। वह विचार चरखे के पुनरुज्जीवन से कुछ मिलता जुलता रहा होगा।

मन में एकाएकी कोई अच्छी बात बैठ गयी और उनकी ज्ञान की दृष्टि के सामने रोग और उसका इलाज दोनों ही एक साथ चित्रित हो गये। करोड़ों आदमियों की दिन पर दिन बढ़ती हुई दरिद्रता को दूर करने के लिए एकमात्र सबको लाभ पहुँचानेवाला इलाज चरखे का सार्वभौम प्रचार ही सूझा होगा। संवत् १९६५ की छपी हुई उनकी पोथी हिन्दस्वराज्य में पहले पहल कताई की चरचा उनके लेखों में पायी जाती है। उसमें महात्माजी वकीलों व्यापारियों और मिल मालिकों को कातने की आज्ञा देते हैं। महात्मा गाँधी में शुद्ध स्पष्ट स्वरों में मनुष्यता बोल उठी कि सारे संसार को एक ही माँग और खपत के नियम कहलाने वाली लाठी से हाकने से काम न चलेगा। जो बातें मनुष्यता से सम्बंध रखती हैं वह आर्थिक भी होनी चाहियें और व्यवहार-साध्य भी। और इसी विश्वास पर चरखे की बात पर ज़ोर दिया गया।

३. चरखा और अर्थशास्त्र

अब यह बात देखी जा रही है कि राष्ट्र के कार्यक्रम में चरखा सब से ऊँचा स्थान लेने को आया है।*

---

*संवत् १९७७ के विशेष कांगरेस में हर नर नारी और बच्चे के लिये स्वार्थ-त्याग और आत्मसंयम के उपाय के रूप में हाथ की कताई-बुनाई और खद्दर का पहनना निश्चित हुआ, उसी साल नागपूर के कांगरेस में वही मन्तव्य दोहराया गया। फिर बैजवाड़े में संवत् १९७८ में यह निश्चय किया गया कि बीस लाख चरखे चलवाने के लिये पूरी कोशिश की जाय। उसी साल कई महीने बाद दिल्ली में जो अखिल भारतीय कांगरेस कमीटी

परन्तु प्रश्न यह है कि राष्ट्र के लिये चरखे में योग और क्षेम दोनों ही है या नहीं। क्या खद्दर उपयोगी व्यवहार-साध्य अर्थ-शास्त्र के अनुकूल प्रस्ताव है ? क्या यह जीती जागती और अनिवार्य्य राष्ट्रीय आवश्यकता का रूप है ? इन प्रश्नों के उत्तर पर और इन्हीं की तरह और प्रश्नों के उत्तर पर चरखे का भविष्य निर्भर करता है। यदि अर्थशास्त्र को योग और क्षेम के विज्ञान के रूप में निर्माण करना है तो निश्चय उसका यही एक निर्विवाद सिद्धान्त हो सकता है कि सम्पत्ति उपजानेवाली देश की सारी ताक़तें पूरा पूरा काम करें और इन्हीं का विकास और इन्हीं की रक्षा की जाय। परन्तु जितने आर्थिक काम किये जाते हैं उनका विशेष उद्देश्य केवल सम्पत्ति को जैसे तैसे रूप में ही उपजाना न होना चाहिये,

---

की बैठक हुई उसमें स्वेच्छा सेवकों के लिए हाथ की कताई जानना अनिवार्य कर दिया गया और यह भी निश्चय किया गया कि जो ज़िले या प्रान्त सत्याग्रह की तैयारी करना चाहते हों उन्हें यह दिखाना चाहिये कि उन्हीं के यहाँ के बने हुए खद्दर उनकी आबादी में सैकड़ा पीछे साठ आदमी पूरी तौर पर पहनते हैं। जब महात्मा गांधी जेल से छूट कर आ गये थे उस समय संवत् १९८१ के जून के अन्त में अहमदाबाद में यह निश्चय किया गया कि कांगरेस के जितने अंगों का चुनाव होता है उनका हर सदस्य नित्य आधा घंटा चरखा काते और अखिल भारतीय खद्दर बोर्ड को साल में बराबर और अच्छा कता हुआ दो हजार गज सूत दे। तर्क से अपनी खुशी से कातने का जो परिणाम हो सकता था वही हुआ और कांगरेस ने मेम्बरी की शर्त में कातना दाखिल कर लिया। अब वही शर्त अखिल भारतीय चरखा संघ के सदस्यता की है और कांगरेस ने अपनी मेम्बरी की शर्तों में कताई की शर्त ऐच्छिक रखी है।

बल्कि सम्पत्ति को ऐसे रूपों में ही पैदा करना होना चाहिये जिनसे देश की आवश्यकताएँ पूरी हो सकें। हमारे यहाँ के लोगों की परिस्थितियों के अनुकूल जो आवश्यकताएँ मामूली तौर पर हुआ करती हैं और जैसा इस देश का सामाजिक संगठन है और जैसी प्रवृत्तियाँ हैं वैसे ही हमारे क्षेम के भी आदर्श हैं। आवश्यकता पूरी करनेवाली सम्पत्ति पैदा करना बहुत कुछ इन्हीं आदर्शों पर अवलम्बित होगा। हर राष्ट्र के विशेष रूप रंग होते हैं और उन्हें व्यक्त करने का अपना अपना अनोखा ढंग होता है, उसकी सामाजिक शक्तियाँ जटिल होती हैं। यही सब बातें मिलकर राष्ट्र की विशेष प्रकृति बनाते हैं। असल बात यह है कि अर्थ-शास्त्र के सिद्धान्त से जो मालियत और परिमाण ठहरा लिये जायँ वे ऐसे न होने चाहियें जो इस प्रकृति की नींव को ही हिला दें। जिन दशाओं में जिस काल में मनुष्य रहता है या रहने को लाचार किया जाता है, साधारण आर्थिक उपाय भरसक उन्हीं दशा-ओं से अनुकूल और मिले जुले होने चाहिये। इस बात को तय करने में कि राष्ट्र को क्या चाहिये या वह क्या चाहता है आर्थिक और नैतिक दोनों तरह के मानव भाव और शक्तियाँ निरंतर भीतर ही भीतर काम करती रहती हैं। यह आवश्यक नहीं है कि जो परिमाण एक राष्ट्र के मामलों में लगते हैं दूसरे राष्ट्र के मामलों में भी वही खामखाह लग जायँ। यह हो सकता है कि हमारे राष्ट्र की तरह और भी किसी राष्ट्र के लिये सबसे ज्यादा जरूरी और पहला प्रश्न यही है कि हम कैसे जीते रहें, जीवन की रक्षा कैसे करें। सुख से जीना और आराम से रहना तो पीछे के सवाल हैं और जीने का उपाय हो जाने पर ही उठते हैं। भार-

तीय घरों में तो आज एक ही चिन्ता है कि हम कैसे जीते रहें। अगर देहात के घर या झोंपड़े के भीतर रोटी कपड़े से बे फिकरी हो या योगक्षेम की नीवँ पड़ जाय तो समझ लेना चाहिये कि भारत का सवाल लगभग हल ही हो गया। अगर घरों में रोटी-कपड़े से लोग निश्चिन्त हो जायँ और काम करने से मन जो भागता है, यह दोष मिट जाय तो राष्ट्रीय योगक्षेम तो अपने हाथ में समझना चाहिये। अपने ऊपर निर्भर करना, वह काम करना जिससे कुछ उपजे और हर मनुष्य की सब ताक़तों को काम में लाना हो, हमें इन बातों को आगे की उन्नति की जड़ बुनियाद बनाना पड़ेगा। असल प्रश्न यह नहीं है कि कुछ लोग अपने पड़ोसियों के मत्थे अमीर हो जायँ। वह तो इस बात का प्रश्न है कि एक दूसरे की मदद और मिलजुल कर काम करने के सिद्धान्त पर सारे राष्ट्र की किस विधि से रक्षा करें। और हमारे उद्देश को वह सभी उपाय लाभ पहुँचा सकते हैं जिनसे कि उपजाने की योग्यता राष्ट्र की बढ़ जाय, राष्ट्र का कुल मुनाफ़ा बढ़ जाय, और इस मुनाफ़े की ठीक ठीक बँटाई भी सारे राष्ट्र में हो जाय, किसी तरह की रुकावट न पड़े।

यह भी याद रहे कि पैदा करने कि योग्यता बढ़ाने में लोगों के ऊपर बेजा दबाव या जब्र न डाला जाय कि लोग अपनी इच्छा और स्वार्थ को छोड़ कर और किसी ढंग पर काम करने लगें।

४. चरखे पर आपत्ति

इस उदार और सार्वजनिक दृष्टि से जब हम देखते हैं तो खद्दर और चरखे की छिपी शक्तियाँ देश के सबसे उत्तम विचार

करनेवालों को बरबस ही अपने पक्ष में कर लेती हैं। फिर भी कताई की उपयोगिता के सम्बन्ध में विचारों और अटकलों में बहुत कुछ अंतर है। कुछ लोगों के लिये चरखे में कोई राजनीति नहीं है, केवल कटी और चिरी हुई लकड़ियाँ हैं। कुछ और लोग हैं जिनको उसकी आर्थिक उपयोगिता में भी संदेह है। महामाननीय श्री श्री निवासशास्त्री ने एक बार कताई को ऐसा आर्थिक भ्रम ठहराया था जो परीक्षा की कसौटी पर कसा नहीं गया है। इस तरह उन्होंने असल में थोड़ा बहुत शुद्ध ही रूप से उन लोगों का भी विचार प्रगट किया था जो संदेहवादी हैं। क्या चरखा एक टोटका मात्र है या उसमें ऐसी आर्थिक या दूसरी शक्तियाँ हैं जो राष्ट्र के लिए बहुत लाभदायक और व्यापक उपयोगिता रखती हैं जिसके लिये उस पर ध्यान दिये बिना काम नहीं चल सकता। इस प्रश्न का परिशीलन आरम्भ करने का उत्तम उपाय यही जान पड़ता है कि पहले पहल उन्हीं प्रधान आपत्तियों की जाँच की जाय जो अर्थशास्त्रीय और दूसरे लोग चरखे के विरुद्ध पेश करते हैं। कताई को फिर से जिलाने के विरोध में अब तक जो कुछ कहा गया है सबका विश्लेषण करने से मालूम होगा कि विशेष बहस इन्हीं रीतीयों पर की गयी है।

(१) कताई दिन भर मजूरी करने का रोजगार नहीं हो सकता और यह कि अत्यन्त मर्यादित रूप में अगर यह कुछ हो सकता है तो फ़ुरसत की घड़ी का एक गौण काम हो सकता है।

(२) और ऐसा अगर सम्भव भी हो तो गरीब लोगों को काम में लगाने के लिए और भी सुभीते के रोजगार हैं, जिनमें ज्यादा किफायत है और अधिक आमदनी है।

(३) अगर थोड़ी देर के लिये मान भी लें कि चरखे से राष्ट्र के लिए कुछ बचत होगी तो वह बचत अत्यन्त थोड़ी और बहुत महँगी भी होगी।

(४) इन तीनों बातों के सिवाय एक और भी विचार है कि चरखे में अगर सब तरह के लाभ भी मान लिए जायँ तो भी मिलों की होड़ को चरखा सह नहीं सकता। इन सब आपत्तियों को एक एक करके जाँचना और विचार करना उपयोगी होगा।

५. पहली आपत्ति पर विचार

चरखे के अधिक से अधिक उत्साही समर्थकों ने भी अब तक कभी यह बात नहीं सुझाई है कि दूसरे व्यवसायों और मजूरियों के बराबर दिन भर की मजूरी चरखा कातने से मिल सकेगी। **कताई की मजूरी शायद कभी दो तीन आने रोज़ से ज़्यादा नहीं हो सकती।** निश्चय ही अकाल के कष्टों से बचाने के लिए चरखा ज़रूर काफी है क्योंकि अकाल की मजूरी का सरकारी परिमाण दो आने रोज से भी कम है। इसलिए इस हद तक तो चरखे की उपयोगिता निर्विवाद है। परन्तु हमारे देश के किसान आदिकों की भारी आबादी के लिए क्या बचे समय के लिए चरखा एक सहायक रोजगार हो सकता है और उनकी आमदनी में कुछ अच्छी रकम जोड़ सकता है? यही मतभेद है अ र यहीं विवादों का आरम्भ होता है।

६. भारत की दरिद्रता

जो हो, कुछ बातें तो अवश्य ही निर्विवाद हैं। यह तो निर्वि-

बाद ही है कि हमारी जनता ऐसे हद तक दरिद्र होगयी है कि बाहरी सुननेवाले को सहसा विश्वास नहीं होता। जब से दादा-भाई नौरोजी ने भारतीय आबादी की सिर पीछे आमदनी निकालने की कोशिश की तब से एक दर्जन के लगभग अटकलें की गयी हैं। भिन्न २ अर्थ-शास्त्रियों ने भिन्न भिन्न समयों पर अटकलें निकाली हैं वह सब नीचे दी जाती हैं।

इस सारिणी के सभी अंक ब्रिटिश भारत के लिये हैं। जिन पुस्तकों के अंक हैं, वह सभी अंग्रेजी के ग्रन्थ हैं।

किताबों का नाम	वर्ष जिसका अटकल लगाया गया है	कुल आमदनी इतने करोड़ रुपये में	सिर पीछे आमदनी रुपये में
(१) Poverty and un-British rule in India (Dadabhai Naoroji)	संवत् १९२४	३४०	२०
(२) Financial Statement for 1882	१९३८	५२५	२७
(३) Prosperous British India (William Digby)	१९५५	४२९	१७.५
(४) financial Statement for 1901-2 (Lord Curzon)	१९५८	६७५	३०
(५) The Wealth of India (Prof P. A. Wadia & G. N. Joshi)	१९७०	१२१०	४४
(६) Wealth and Taxable			

Capacity of India (prof. Shah &	१९५७	११०६	३६
Khambatta)	१९७१	१८६२	५८·५
	१९५७	१३८०	४४·५
	१९७८	२३६४	७४
(७) Reconstructing India (Sir M. Visweswarayya)	१९६८		३६
(८) The Average Income of India (Prafull Chandra Ghose)	१९७९		५१·८
(९) Indian Economics (prof V. G. Kale)			४० से ४८
(१०) Industrial Decline of India (Dr. Balkrishna)	१९६८	५३९	२१
(११) The Science of public Finance	१९७८	२५९८	१०७
(Findlay Shirras)*	१९७९	२६६८	११६

* श्रीफिन्डली शिरस की अटकल घोर अतिशयोक्ति है। उनके हिसाब करने के ढंग बिलकुल मनमाने हैं, जैसे, वह फासिल की मालियत दूसरे समसामयिक अर्थशास्त्रियों की अपेक्षा दूनी लगाते हैं। उन्होंने जो कुछ रुपया जमा हुआ सब को जोड़ लिया। वह भी केवल एक साल का, मालगुजारी आदि का देना चुका कर कई साल का औसत लगा कर आमदनी नहीं निकाली है। फिर जो आमदनी खेती के द्वारा नहीं हुई उसके लिये अलग अलग कोई अंक नहीं दिये हैं, बल्कि अपने मन से उसे आठ अरब तिरासी करोड़ रख दिया है अर्थात् खेती से जो कुछ आमदनी होती है उसको सैकड़ा मान कर चालीस रखा है।

इन सब में जिन लोगों ने भारतीय आबादी की आमदनी सिर पीछे ५०) से अधिक रखी है उनका अन्दाज़ा ठीक नहीं है।*

यह तो निर्विवाद रीति से मानी हुई बात है कि भारतवर्ष संसार में आज सब से दरिद्र देश है। यहाँ के गरीबों की दशा देखकर अकल चकरा जाती है। प्रोफ़ेसर शाह ने लिखा है कि "भारत के सारे धन की तिहाई को उसकी सारी आबादी में सौ में से एक भाग ही भोग रहा है। और अगर इन भोगनेवालों के भरोसे बैठे खानेवालों को भी गिन लिया जाय तो भी सौ में पाँच से अधिक नहीं ठहरते। तिहाई धन से कुछ थोड़ा अधिक या सैकड़ा पीछे लगभग पैंतीस के कुल आबादी की एक तिहाई

---

* थोड़ी देर के लिए दूसरे देशों के लोगों की आमदनी की अटकल पर अगर कोई निगाह डाले तो वह यह समझ सकेगा कि भारतवर्ष की दरिद्रता कैसी भयानक है।

नीचे जो सारिणी हम देते हैं उसमें युद्ध के पहले की सभी देशों की सिर पीछे आमदनी गिन्नीयों में और रुपयों में दिखायी गयी है।

देश	सिर पीछे आमदनी	
विलायत (महाब्रिटेन)	५० गिनी	७५०) रु०
अमेरिका के संयुक्तराज्य	७२ "	१०८०) "
जरमनी	३० "	४५०) "
फ्रांस	३८ "	५७०) "
इटली	२३ "	३४५) "
कनाडा	४० "	६००) "
आस्ट्रेलिया	५४ "	८१०) "
जापान	६ "	९०) "
भारतवर्ष	२·४ "	३६) "

भोग रही है। बाकी बचे सौ में साठ प्राणी देहातों के रहनेवाले और किसान हैं जो देश के केवल ३०) सैकड़ा के लगभग आमदनी सब मिलकर भोगते हैं। दूसरे शब्दों में यों कहना चाहिये कि जो दरिद्र से दरिद्र हैं उन्हें बीस पचीस रुपये साल भी नहीं मिलते। इसका अर्थ क्या है? जीवन के लिये सब से ज़्यादा ज़रूरी चीजों का न मिलना, न पेट भर भोजन, न पहनने को कपड़े। करोड़ों आदमियों का निरंतर भूखों मरना और नैतिक और सामाजिक अवस्था का लगातार बिगड़ते जाना। बरसों हुए सर विलियम हन्टर ने अटकल लगायी कि इस देश में चार करोड़ आदमी आधे पेट पर जीवन बिताते हैं। आधे पेट खानेवालों की संख्या हर साल बढ़ती ही जाती है। भारतवर्ष में मृत्यु-संख्या बड़ी भयानक है। इसका कारण यही है कि किसानों की प्राण-शक्ति अत्यन्त दुर्बल हो गयी है। मृत्यु की दर जहाँ जापान में २१·९ है, जहाँ विलायत में १४·६ है, वहाँ भारतवर्ष में ३३·४ है।

अनेक उदाहरणों में से एक संवत् १९७५ का ही लीजिये कि जब युद्ध-ज्वर फैला तो देश से अस्सी लाख प्राणियों को ले गया। एक अर्थशास्त्री ने छः ही शब्दों में क्या ठीक कहा है कि "**दीनों की दरिद्रता ही उनका सर्वनाश है**"। उनकी आमदनी दिन पर दिन घटती ही जाती है और उन्हें आये दिन भयानक अकालों का सामना करना पड़ता है और उनके धक्के से सम्हलने के लिए उनके पीछे रत्ती भर सहारा नहीं है। संवत् १८५७ से १८८२ तक के पचीसे में छः बार काल पड़ा और संवत् १८८२ से संवत् १९०७ तक केवल दो बार काल पड़ा परन्तु संवत् १९०८ से लेकर १९५७ तक में चौबीस बार काल पड़ा। संवत् १९०८ से

संवत् १९३२ तक में छः बार और संवत् १९३२ से संवत् १९५७ तक अठारह बार। देश की भयानक मृत्यु संख्या का कारण आये दिन बारम्बार दुर्भिक्ष का पड़ते रहना है और यह उससे भी भारी विपत्ति का परिचायक लक्षण है। वह विपत्ति यह है कि वर्ष चाहे भले हों या बुरे जनता की दरिद्रता जो यहाँ स्थायी हो गयी है दिन पर दिन बढ़ती ही दिखाई पड़ती है।

७. क्या खेती में साल भर बराबर लगे रहना होता है?

यहाँ के लोगों की भयानक दरिद्रता और उसके दिन पर दिन बढ़ते जाने के क्या कारण हैं? भारत की भारी आबादी विशेष कर गाँवों में ही रहती है और गाँववाले सब खेती करनेवाले हैं। हमारे देश के हर चार में तीन आदमी खेती करते हैं और अपनी रोटी सीधे खेत से पाते हैं। अब आजकल बची घड़ियों में काम करने को उनके पास कुछ नहीं है। जो लोग खेती के काम में लगे भी हैं उनको बराबर साल भर नहीं काम करना पड़ता, उनकी बेकारी की घड़ियां बहुत हैं। संवत् १९७८ की मरदुम-शुमारी * की रिपोर्ट में देश की खेतिहर आबादी को सैकड़ा पीछे इकहत्तर ठहराया है। इस ७१ में भी सब के सब

---

* गाँवों और कसबों में जो भारतीय आबादी है उसका मुकाबला करना बहुत शिक्षाप्रद है। हम यहाँ १९७८ की मरदुमशुमारी की रिपोर्ट से कुछ अंक देते हैं।

१—भारतवर्ष की पूरी आबादी	३१,८९,४२,४८०
२—गाँवों की आबादी	२८,६४,७६,२०५

खेत में काम नहीं करते। इसमें वह लोग भी शामिल हैं जो खेत की आमदनी पर ही दिन काटते हैं और खुद कोई खेती नहीं करते। खेती के काम करनेवाले मजदूरों की बढ़ती में एक विशेष भय है। संवत् १९५८ की मरदुमशुमारी की रिपोर्ट में यह लिखा है कि एक भारी संख्या ऐसे लोगों की बढ़ गयी है जिनके पास ज़मीन नहीं है। इसमें एक आर्थिक जोखिम है। उन प्रान्तों में जहाँ बराबर काल पड़ जाया करता है या उन ज़िलों में जहाँ गावों की आबादी बहुत बढ़ गयी है, प्रायः उन्हीं प्रान्तों और ज़िलों में बिना जमीनवाले खेतिहर मजूर भी बढ़े हुए हैं। यही भय की बात है। जिन बरसों में फसिल की दशा साधारण होती है उनमें भी खेत पर काम करनेवाला साधारण मजूर अत्यन्त दरिद्रता और दुःखों से गुजर करता है। खेती अधिकांश

३—कसबों और शहरों की आबादी (अर्थात् १०·२ प्रति सैकड़ा पूरी आबादी का)	३,२४,७५,२७६
४—शहरों और कसबों की संख्या	२, ३१६
५—गाँवों की संख्या	६,८५,६६५
६—शहरों में आबाद मकानों की संख्या	६८,६५,०१४
७—गाँवों में आबाद मकानों की संख्या	५,८४,२३,३७५

भारतवर्ष में शहरों का बढ़ना बहुत ही धीरे धीरे हुआ है। संवत् १९४८ में शहरों की आबादी ९·५ प्रति सैकड़ा थी। तीस बरस बाद १९७८ में १०·२ प्रति सैकड़ा है। अर्थात् इतने बरसों में सौ में एक से भी कम ही बढ़ी है। गाँवों से शहरों में लोग नहीं गये हैं पर छोटे २ कसबों से जरूर गये हैं। भारतवर्ष का स्वभाव शहरों को बहुत बढ़ाने के विरुद्ध जान पड़ता है।

छोटे आदमियों के हाथ में है। भारतवर्ष में तो भारी भारी थोक की खेती कहीं होती ही नहीं। आबादी के बढ़ते जाने से और जायदाद का लगातार बटवारा होते रहने से, जो कि पुराने परिवारों के टूटते रहने से होता ही रहता है फल यह हुआ है कि देश में खेतों के बहुत छोटे २ भाग हो गये हैं और खेती बहुत दूर दूर पड़ गयी है। यह छोटे २ भागों में बटवारा सारे देश में व्यापक है। इतना ही नहीं है कि खेती छोटे छोटे टुकडों में बंट गयी है बल्कि कभी कभी एक ही आदमी की जोत बहुत दूर दूर पर होती है और इतनी बिखरी होती है कि खेती करना कठिन हो जाता है और लाभ कुछ नहीं होता। ब्रिटिश भारत में कुल ज़मीन जिसमें खेती होती है लगभग साढ़े बाईस करोड़ एकड़ के है। किसानों की आबादी बच्चे बूढ़े नरनारी मिला कर अगर साढ़े बाईस करोड़ मान ली जाय तो भी सिर पीछे एक एकड़ मुशकिल से पड़ता है। बिहार में जहाँ आबादी बहुत घनी है किसानों की जोत का औसत आधे एकड़ से कम ही पड़ता है। मद्रास हाते के उन जिलों में जहाँ रैयतवारी रीति है अधिकाँश एक से लेकर पाँच एकड़ तक प्राणी पीछे जोत होती है। दक्षिण के गाँओं की जाँच में * डाक्टर मान का कहना है कि वहाँ सैकड़ा

---

* अंग्रेजों के आने के पहले और जब शुरू शुरू में अंग्रेज़ आये तब मामूली तौर से जोतें बड़ी होती थीं। अकसर नव या दस एकड़ से बड़ी होती थी। लेकिन अब दो एकड़ से कम की अकेली जोतें मुशकिल से रह गयी हैं। अब जोतों की संख्या दूनी से ज्यादह होगयी है और सौ में इक्यासी जोतें दस एकड़ से कम की हैं और साठ जोतें पांच एकड़ से कम की हैं। देखो Land and Labour in a Deccan Village by Dr. Harold Mann.

पीछे साठ जोत पाँच एकड़ से कम है। बंगाल में १९७८ की मर्दुमशुमारी की रिपोर्ट में मिस्टर टाम्सन इस बात को कबूल करते हैं कि वहाँ जितनी खेती होती है मुशकिल से पौने तीन एकड़ हर काम करनेवाले को पड़ती है। आसाम में औसत जोत का विस्तार २·९६ एकड़ है और संयुक्त प्रान्त में केवल ढाई एकड़ है। यह तो साफ है कि इस समय सारे देश में अकेली जोतों का जब यह हाल है तो यह कैसे सम्भव है कि किसान पूरे साल भर काम में लगा रहेगा। यह बात भी सभी लोग पूरी तौर पर मानते हैं। सरकारी रिपोर्टों की अगर ज़रूरत हो तो बहुत से अवतरण दिये जा सकते हैं। उनमें से थोड़े से हम यहाँ देते हैं। १९७८ की मर्दुमशुमारी की रिपोर्ट में संयुक्त प्रान्त की बात कहते हुए मिस्टर इडाई कहते हैं।

"आबादी का बहुत भारी भाग किसानों का है और उसका मतलब यह है कि केवल दो फसलें जोतनी, बोनी, बढ़ानी और काटनी रहती हैं। खेती में साल में दो ही दफे यह काम होता है। इंग्लिस्तान की सी मिलीजुली खेती यहाँ नहीं है। इस तरह की खेती में कुछ थोड़े थोड़े काल के लिये बड़ी मेहनत पड़ती है। मामूली तौर से दो बार की बुआई, दो बार की कटाई, और बरसात में कभी कभी की निराई और जाड़ों में तीन बार की सिंचाई और बाक़ी बचे साल भर के दिनों में बिल्कुल बेकारी। यह बेकारी के दिन सुस्ती में बैठेठाले गँवाये जाते हैं।"

१९७८ की मध्यप्रान्त की मर्दुमशुमारी की रिपोर्ट में मिस्टर हाउटन भी लगभग वही बात कहते हैं कि—

"आबादी का बहुत बड़ा हिस्सा अपनी जीविका के लिये खेती पर ही निर्भर करता है परन्तु खेती ही में बरस भर का

भर का पूरा काम नहीं है। प्रान्त में बहुत बड़े भाग में महत्व की फ़सल एक खरीफ़ ही है जो जोती बोयी जाती है और बरसात के अन्त में काट ली जाती है। फिर उसके बाद दूसरी बरसात के आने तक बराबर बेकारी रहती है।"

बंगाल के रिपोर्ट में मिस्टर टामसन कहते हैं कि "सवा दो एकड़ से कम की खेती में साल भर में एक आदमी को थोड़े ही से दिनों बराबर काम करते रहना पड़ता है। जब खेत जोतता है, बोता है, काटता है तब तो किसान बड़ी मेहनत करता रहता है पर इसके बाद साल भर में अधिकांश वह बेकार बैठा रहता है।" मिस्टर कालवर्ट ने Wealth and Welfare of the Punjab (पंजाब का योगक्षेम) नाम की एक पुस्तक लिखी है। इसमें भी वह यही बात दोहराते हैं। उनका अन्दाज़ा है कि पंजाब में औसत किसान जो काम करता है साल भर में एक सौ पचास दिनों की पूरी मेहनत से ज्यादा नहीं होता। इस बात पर अब अधिक विस्तार करने की ज़रूरत नहीं हैं। जहाँ की ज़मीन अब सूखी है और सिंचाई का विशेष प्रबन्ध नहीं है वहाँ तो किसान छः महीने से अधिक बेकार रहता है। घर की स्त्रियाँ तो उसे केवल निराई और कटाई के समय में ही मदद करती हैं। इतने काम को छोड़ कर बाकी सालभर उन्हें बेकार रहना पड़ता है। उन लोगों की जितनी जबरदस्ती की बेकारी है वह मर्दों से मिलावें तो साल में उनसे ज्यादा ठहरती है। फिर किसान की मेहनत का फल बरसात के ऊपर निर्भर है। उसके लिए खेती एक तरह का जुआ है जो वह बरसात पर लगाकर खेलता है। इस बात को बेकारी के महीनों से जोड़ दें तो उस विपत्ति की सूरत खड़ी हो जाती है जिसका सामना किसान को

करना पड़ता है। इन बातों से यह समझ में आ जाता है कि सारे देश में बेकारी क्यों इतनी फैली हुई है और जनता में क्यों इतनी भयानक दरिद्रता है। साल भर जो किसान को बेकारी रहा करती है और महँगी और सूखे के समय में किसान को जो जोखिम उठाना पड़ता है उसकी जड़ में बड़े दुर्भाग्य की बात यह है कि जनता के लिये कोई काम नहीं है कि समय भी काटे और कुछ पैसे भी कमा ले। इस बात को कोई भुला नहीं सकता और इन विपत्तियों का अगर कोई ऐसा इलाज बतावे जिसमें बेकारी के घंटों में मेहनत करने के लिये दो एक स्थायी काम शामिल न हो तो वह इलाज बेकार होगा।

८. जाँचों में कताई ठीक उतरती है

भारत की खेती की दशा पर विचार करने से जो बात हमें लाचार होकर सीखनी पड़ती है वह यह है कि हमको किसान की आवश्यकताओं पर तुरन्त ही ध्यान देना है और वह भी इस तरह पर कि न केवल बेकारी के समय में उसकी पैदा करने की ताक़तें पूरी तौर पर काम में आवें बल्कि उसके परिश्रम से इतनी आमदनी भी होजाय कि उसे अत्यन्त आवश्यक खाना और कपड़ा मिल सके। जो इलाज किया जाय वह ऐसा हो कि अगर वह ज्यादा नफ़ा देनेवाला कोई काम पावे तो कर सके, उसमें बाधा न पड़े और वह इलाज ऐसा हो कि जब जब वह खाली हो तब तब कर सके। बाढ़ में और अकाल पड़ने पर भी यह काम उसके हाथ में रहे और उसके घर के बच्चे बच्चे तक वह काम कर सकें। कहीं गाँव का ही यह उद्योग या व्यवसाय हो जिससे ऐसा उपर्युक्त काम घर घर बँट सके और जिससे किसान की

आमदनी काफ़ी तौर से बढ़जाय और जिसमें किसान आप ही केवल कभी कभी काम न करे बल्कि उसके घर के बूढ़े, स्त्रियाँ और बच्चे भी बिना कठिनाई के उसकी मदद कर सकें और जिस काम के विरुद्ध जाति परम्परा या पसन्द के विचार से कोई आपत्ति न हो। उस इलाज के ठीक होने की यही परख है और इनमें से हर एक प्रश्न का उत्तर हाथ की कताई से मिल सकता है। गाँव का पुराना सामाजिक संगठन अब तक बना हुआ है। कताई उसके बिल्कुल अनुकूल है। यह गाँव का मौसिमी व्यवसाय है और एक ही व्यवसाय है जो सारे देश में चल सकता है। और ऐसी बड़ी आबादी के लिये बहुत उपयुक्त है जो न केवल दरिद्र है और आधे पेट पर जीती है बल्कि अशिक्षित भी है क्योंकि कोई विशेष कला या विद्या सीखने का उसे अवसर ही नहीं मिलता। अभी उस दिन इलाहाबाद की कृषीशाला के मिस्टर हिगिन बाथम ने कर की जाँच कमेटी के सामने गवाही देते हुए इस बात पर बड़ा खेद प्रगट किया है कि इस देश में गाँओं में कोई ऐसा व्यवसाय नहीं है जो बेकार आदमियों को काम में लगा सके। उन्होंने कहा कि जब केवल आधे ही समय तक खेतों पर काम किया जा सकता है और खेत इतने नहीं हैं कि उतने आदमियों के लिये काफ़ी काम दे सकें तो उपाय यही है कि उनके लिये गाँव के उपयुक्त मौसिमी व्यवसाय निकाले जायँ और उन्हें तरक्की दी जाय। यह तो साफ़ ही है कि किसानों को खेती के सिवाय कोई अच्छा घरेलू रोजगार चाहिये जिससे कुछ आमदनी भी हो और जिसके लिये उन्हें खेती के सुख और अधिकारों को छोड़ना आवश्यक न हो।

६. मिस्टर टाम्सन की जूट की मिल

यही बातें हम यों भी कह सकते हैं कि किसान के लिये यह संभव नहीं है कि काम ढूँढ़ने के लिये उसे ऐसे व्यवसाय-केन्द्रों में जाना पड़े जो बन गये हैं या बननेवाले हैं। ऐसा तो उसे बहुत हारे दर्जे करना पड़ेगा। बंगाल की मर्दुमशुमारी के अफ़सर मिस्टर टाम्सन के शब्दों में, "उनके लिये यही सब से अच्छा है कि उनके पास उनके गाँव में ही काम पहुँचाया जाय।" मिस्टर टाम्सन इस बात को कबूल करते हैं कि जो लोग चरखे का उपदेश करते हैं उनमें से अधिक बिचारशीलों की यही दलील है और यहाँ तक यह दलील ज़रूर पक्की है। यहाँ मिस्टर टाम्सन रुक जाते हैं। चरखे के पक्ष में दलील देने का महा अपराध करते करते मानों वह चौंक उठते हैं और फिर घबरा कर इस बात को छोड़ देते हैं और झूठी और बेपेंदे की दलीलों की झक में पड़कर "चरखे पर निर्भर करना बेकार है" इस अपनी मान ली हुई प्रतिज्ञा को संभालने के लिये छानबीन करने लग जाते हैं। वे कहते हैं—

"बंगाली किसान का जैसा अपना रहन सहन है उसके अनुकूल काफ़ी आमदनी बहुत थोड़ी मेहनत से वह ज़मीन से ले लेता है। ऐसा कोई काम करने को जल्दी बंगाली किसान राज़ी न होगा जिसमें बहुत श्रम और समय लगाने पर भी बहुत कम मज़दूरी मिलेगी। चरखे के अर्थशास्त्र से हमें कोई आशा नहीं है। यद्यपि हाथ के करघों की वही दशा कदापि नहीं है।"

लेकिन इसी के साथ बड़ी भोंडी बात का सामना करना पड़ता है कि हाथ के करघे बहुत ज्यादह बढ़ाये नहीं जा सकते क्योंकि इस काम की भीतरी कठिनाइयाँ बहुत हैं और इसमें विशेष दक्षता की बहुत जरूरत है। इस विचार से हार कर मिस्टर टाम्सन एक बड़ी दिल्लगी का प्रस्ताव करते हैं कि कोई मानव जाति हितैषी आकर गांवों के किसी केन्द्र में एक जूट का मिल खोल दे जिस से गाँववालों को काम मिलने लगे। क्या कहने हैं, मानो एक जूट की मिल या एक सौ मिल ही सही बंगाल के प्रश्न को हल कर सकती हैं। टाम्सन साहब कबूल करते हैं कि किसानों की आदत है कि पुराने ढंगों को नहीं छोड़ते और वह अपना घर छोड़ कर दूर मजूरी करने जाना पसन्द न करेंगे। ऐसी दशा में जूट मिल की तो कोई चर्चा ही नहीं हो सकती। इतना व्यापक दूसरा मौसमी रोजगार जिसको किसान जब जी चाहे तब घर बैठे कर सके सिवाय चरखा कातने के और हो ही नहीं सकता। मिस्टर टाम्सन इस बात को कबूल करते हैं कि जूट मिल से कोई लाभ न होगा और जोखिम का रोजगार है, वह तर्क का स्वयं इस तरह खंडन कर डालते हैं और यह बात चरखे के पक्ष में विशेष प्रकार का समर्थन और साक्षी है। चरखे से जो किसान को आमदनी होगी वह बहुत थोड़ी होगी। परन्तु जब हम इस बात पर ध्यान देते हैं कि खेती से उसको एकड़ पीछे मालगुजारी और खर्च काटकर १५) रु० से ज्यादा लाभ नहीं होता तो जो कुछ उसकी आमदनी में घर के चर्खे से बढ़ंती होगी वह अवश्य ही बहुत ज्यादह होगी। अगर उसे कुछ भरोसा है तो चरखे के ही अर्थशास्त्र का है।

१०. चरखा कताई-केन्द्रों से हमें क्या बातें मालूम हुईं ?

कताई के केन्द्रों से जो बातें हमें मालूम हुई हैं उनसे हमारे कथन की अच्छी तरह जाँच की जा सकती है। आगे की दलील के लिये उनसे हमें मजबूत नेंव मिलती है। बिहार, मद्रास पंजाब और दूसरे प्रान्तों में जहाँ गाँव की स्त्रियाँ अपना समय काटने के लिये चरखे को बहुत अच्छा रोजगार समझने लगी हैं और तेज़ी से कताई का काम करने लगी हैं यह देखा जाता है कि कातनेवाला सात दिन में आठ दस आने औसत कमाई करता है। अगर यह मान लिया जाय कि कताई बीच बीच की मिलनेवाली घड़ियों में ही की जाती है या जब खेत में काम न हो तभी की जाती है तो संभवतः चरखा पीछे घर की आमदनी बीस, पचीस रुपए साल से ज्यादा न होगी। परन्तु किसान की थोड़ी आमदनी से मुकाबला करने पर तो यह आमदनी बहुत ठहरती है। तामिलनाडू के खादी क्षेत्रों में से कुछ चुने हुए गाँवों की वर्तमान अवस्थाओं पर अच्छी तरह जाँच की गयी तो नीचे लिखे (देखो पृष्ठ १६३ में) समझने योग्य अंक मिले।

कुल गांवों का हिसाब करने पर चरखे से जो आमदनी हुई है वह और तरह की आमदनियों पर १२) से २०) रु० सैकड़ा तक बढ़ती ठहरती है। स्त्रियाँ तो खेत के और घरके काम से फुरसत पाकर बचे घन्टों में ही कातती थीं। उनमें के एक भी चरखे को बेकार नहीं समझती थीं। परिवारों का अलग अलग हिसाब करने में तो और भी चौंका देनेवाले परिणाम

गाँव का नाम	चर्खों की संख्या	कताई से वार्षिक आय	कातनेवाले परिवारों का खेती और दूसरे व्यव॰ सायों से वार्षिक आय	कुल आमदनी से चरखे की आदमनी कितने सैकड़ा पड़ती है
पुदुपलयम क्षेत्र				
(१) उप्पुपलय्यम्	२५	४६०)	३३६०)	१२%
(२) संबमपलयम	२९	४५०)	२०६५)	१५%
(३) पुलियम् पट्टो	२०	३४६)	२६५०)	१४%
(४) चिपलनदूर	२५	३७५)	२१५०)	१७½%
(५) पुदुपलयम	२५	३३६)	२३९८)	१७½%
कानूर क्षेत्र				
(६) कुमार पलयम्	६०	१३९८)	९००९)	१५%
(७) चेल्लम् पलयम्	१४	२४२)	२१९०)	१२%
उत्तूकुल्ली क्षेत्र				
(८) बेलस् पलयम्	२५	४०१)	१४००)	२८½%
(९) पापम् पलयम्	६८	१२०५)	५२२०)	२३%
(१०) सेम्बम् पलयम्	१४	३७२)	२६७२)	१६%

निकलते हैं। कोई कोई परिवार दो या अधिक चरखों पर काम करते हुए चरखे से ५०) रु० सैकड़ा अधिक आमदनी कर लेते हैं। यह बात भी समझने लायक है कि बुढ़ियों और बच्चों से और किसी काम में कोई मदद न मिलती। कातने में कोई कठिनाई न थी। उन लोगों ने भी राष्ट्र के काम में पूरा हिस्सा लिया। अकाल में, सूखे में, विपत्ति के समय में, तो चरखे

का महत्व अत्यन्त बढ़ गया। देश के दूसरे भागों में जहाँ सिंचाई का सुभीता नहीं है और जमीन सूखी है अगर इसी तरह जाँच की जाय तो शायद इसी तरह का अनुभव और इसी तरह का फल निकलेगा। अब यह बात निश्चय ही ठहरती है कि खेती से जो आमदनी होती है चरखे की आमदनी उसमें काफ़ी बढ़ती कर देती है। यह फल दिखानेवाला कोई दूसरा व्यवसाय नहीं मालूम होता जो देश भर के लिये उपयुक्त हो। किसान को मदद की बड़ी ज़रूरत है। जो ऋण और दरिद्रता दिन पर दिन बढ़ती जाती है उस से बचना तब तक सम्भव न होगा जब तक कोई फुरसत के वक्त का काम देकर उनकी ठोस मदद न की जायगी।

११. कताई की आवश्यकता का तो अनुभव होता है

कहा जाता है कि चरखा और दूसरी दस्तकारी और व्यापार और व्यवसाय के पुराने दक़ियानूसी तरीके हटा कर अब जो मशीनें चल पड़ी हैं और रेल आदि से माल भेजने के जो सुभीते हो गये हैं तो साथ ही साथ लोगों को काम देने के लिये अनगिनत राहें भी खुल गयी हैं। यह बात बिलकुल झूठ है। इसके विरुद्ध जो बिलकुल सच्ची बात मालूम होती है वह यह है कि बेकारी का सवाल हर साल तेज़ होता जाता है और कोई निकास दिखाई नहीं पड़ता। देश के पुराने स्वदेशी व्यवसाय नष्ट हो गये हैं और यह कह देना काफ़ी होगा कि आजकल के पच्छाहीं व्यापार के साथ साथ हमारे देश में जो संगठित और असंगठित उद्योगों के रूप में कारबार चल पड़ा है उससे आबादी के दसवें भाग

को भी काम नहीं मिल सका है। गरीब किसान की भलाई जितनी दूर तब थी उतनी ही दूर अब भी है। यह सब एक अत्यन्त लाचारी की कथा है। मर्दुमशुमारी का रिपोर्ट में जो पेशों का स्थितिपत्र दिया हुआ है उसके देखने से सब सन्देह मिट जायँगे। *

काम या पेशा	उस पर निर्भर करनेवाली प्रति सैकड़ा आबादी
१—खेती	७०·९ प्रति सैकड़ा। सैकड़े पीछे ४५ काम करनेवाले और ५५ उनके अधीन
२—संगठित व्यवसाय	१ प्रति सैकड़ा
३—व्यापार	६ ,,
४—ढुलाई का व्यवसाय	२ ,,
५—शासन-विभाग में नौकरी	२ ,,

---

* संवत् १९७८ में भारतवर्ष के लोगों का पेशेवार विभाग मर्दुमशुमारी में किया गया था। उसकी बड़ी सारिणी यहाँ देते हैं।

क—कच्चा माल पैदा करने वाले	२३,११,९४, ४०३
१—मनुष्य और वनस्पति से आमदनी करने वाले	२३,०६,५२,३५,०
(१) चराई और खेती	२२,९०,४५,०१,६
(२) मछली और शिकार	१६,०७ ३३,१
२—खनिजों से कमानेवाले	५४,२०,५३
(३) खानों में कमानेवाले	३९,८९,६८
(४) खुदाई और कड़े चट्टानों से कमानेवाले	७४,९४,५
(५) नमक आदि से कमानेवाले	६८,१४,०

बाक़ी लोगों की कोई निश्चित रोज़ी नहीं है और अधिकांश वह काम करते हैं जिसको रिपोर्ट में घरेलू निष्फल काम लिखा

ख—वस्तुओं की तय्यारी और बिक्री करनेवाले	५५,६१,२१,९४
२—उद्योग धंधेवाले	३३,१६,७१,०८
(६) कपड़े के कारबारी	७८,४७,८२,९
(७) खाल चमड़े हड्डी आदि के कारबारी	७३,११,२४
(८) लकड़ी के कारबारी	३६,१२,५८,३
(९) धात के कारबारी	१८,२०,२०,८
(१०) मिट्टी के बरतन के कारबारी	२२,१५,०४,१
(११) रासायनिक कारबारी	११,९४,२६,३
(१२) भोजन व्यवसाई	३१,००,३६,१
(१३) पहिरावा और श्रृङ्गार के कारबारी	७४,२५,२१,३
(१४) सजावट के सामान के कारबारी	२७,०६,५
(१५) मकानों के बनाने के कारबारी	१७,५३,७२०
(१६) ढोने के साधनों के बनानेवाले	५२,७९,३
(१७) भौतिक शक्तियों के पैदा करने और भेजनेवाले	२४,८८,१
(१८) दूसरे भिन्न अस्पष्ट व्यवसायों के करनेवाले	३३,७८,९३,७
३—ढुलाई	
(१९) हवा से ढुलाईवाले	६२,९
(२०) पानी से ढुलाईवाले	७४,५३,९९
(२१) सड़क से ढुलाईवाले	२१,४५,९४,९
(२२) रेल से ढुलाईवाले	१२,३२,६७,२
(२३) डाक तार और टेलीफोनवाले	२०,७४,०५
४—व्यापार	
(२४) बैंक, साख, सर्राफा, और बीमावाले	९९,३४,९२

है, परन्तु जो असल में बेकार और सुस्ती में समय खोने का दूसरा नाम है। संवत् १९७८ के अंकों से १९६८ के अंकों का मिलान

(२५) दलाली, कमीशन, और निर्यातवाले	२४,२६,२८
(२६) कपड़े के व्यापारी	१२,८६,२७ ७
(२७) खाल, चमड़े और समूर के व्यापारी	२८,२८,६२
(२८) काठ के व्यापारी	२२,७६,६७
(२९) धात के व्यापारी	६४,१६,८८
(३०) मिट्टी के बरतन, खपरों, ईंटों के व्यापारी	६२,४९ ८
(३१) रासायनिक पदार्थों के व्यापारी	१२,००,२८
(३२) होटल, चाय काफी और शरबतवाले	७०,६३,३२
(३३) भोजन के पदार्थों के और व्यापारी	९२,८२,६५,१
(३४) कपड़े और शृङ्गार की वस्तुओं के व्यापारी	२८,४८,६८
(३५) सजावट के असबाब के व्यापारी	१७,३१,८८
(३६) इमारती सामान के व्यापारी	७६,८१,०
(३७) ढुलाई के साधनों के व्यापारी	३३,१९,००
(३८) ईंधन के व्यापारी	५१,९२,९६
(३९) व्यसन की और कला, विज्ञान और साहित्य की वस्तुओं के व्यापारी	४५,९८,६८
(४०) और तरह के व्यापारी	३०,४८,५७,०
(ख) शासन-विभाग और उदार कलायें	९८,४६,०५,०
६—फौज	
(४१) थल-सेना	२१,८१,५९,७
(४२) जल-सेना	५७,१
(४३) वायु-सेना	१०,३३
(४४) पुलीस	१४,२२,६१,०

किया जाय तो ज्ञात होगा कि कुल आबादी में किसानों की संख्या ज़रा जल्दी बढ़ी है। उद्योग व्यवसाय बहुत अच्छी तरह घट गये हैं और उनमें से विशेष कर कपड़ों का काम करने वाले बहुत घट गये हैं। लकड़ी और धातु के काम करने वालों में और मिट्टी के बरतन बनाने वालों में भी बहुत घटी आयी है। गाँवों के रहनेवालों में बड़ी तेज़ी के साथ ऐसे लोगों की संख्या बहुत बढ़ रही है जिन के पास अपनी जमीन नहीं है जो किसानों की दी हुई मजूरी पर निर्भर करते हैं और वह भी खेती से ही

७—(४५) राजशासन में नौकरी करनेवाले	२६,४३,८८,२
८—पेशे और साहित्यिक कलाएँ	५०,२०,५७,१
(४६) सम्प्रदायों में नौकरी करनेवाले	२४,५२,६१,४
(४७) कानून पेशा	३३,६५,१०
(४८) चिकित्सा व्यवयी	६५,९५,८३
(४९) शिक्षा व्यवसायी	८०,५१,२८
(५०) साहित्य, कला और विज्ञान व्यवसायी	७६,१६,३६
(घ) विविध	
९—(५१) अपनी आमदनी पर बसर करनेवाले	४७,९८,३५
१०-(५२) घरेलू नौकर	४५,७०,१५,१
११-(५३) वह कारबारी जिनका वर्गीकरण नहीं हुआ	११,०९,८५,६६
१२-निष्फल काम करनेवाले	
(५४) जेल, पागलखाने अनाथालय और खैरातखाने के रहनेवाले	१४,५४,६७
(५५) भिखमंगे, आवारा, और वेश्याएँ	३०,२०,६८,०
(५६) दूसरे निष्फल पेशेवाले	८७,३८,५

आती है। देश की आबादी का १० में से ९ हिस्सा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से खेती का ही भरोसा करता है और उसके पास बहुत सा फालतू समय बचता है जिसमें उसे कोई काम नहीं रहता। संगठित उद्योगों के बढ़ने से पिछले समय में केवल एक प्रति सैकड़ा आदमी को काम मिल सका है और अगर उसका विस्तार दस बीस बरस और जारी भी रहे तो भी बेकार लोग को वह इतना काम न दे सकेगा जो किसी गिनती में आ सके। चरखे के सिवाय और और कारीगरी और कलाओं में की बढ़ती के लिये सुभीते कर देने से निकट भविष्य में यह सम्भव नहीं है कि जिन्हें बड़ी जरूरत है उनमें से शतांश को भी रोजी मिल सके। हाथ की कताई के बन्द होने से जो भयंकर शून्यता होगयी है यह और किसी तरह पर भरी नहीं जा सकती। उसी कारबार को जिलाना पड़ेगा और उसके साथ साथ चलने वाले व्यापार और कारीगरी को फिर से जारी करना होगा। पिछले कुछ बरसों के अनुभव से यह बिलकुल सिद्ध हो गया है कि कताई की ऐसी बड़ी जरूरत थी कि लोग उस के अभाव का अनुभव करते थे। जिन गाँवों के लोगों ने कताई शुरू की उन्होंने उसे छोड़ कर कोई और अच्छा पेशा या काम इसीलिये नहीं कर लिया कि ऐसा कोई काम मिलता ही न था। यह बराबर देखा गया कि जब कभी उचित संगठन के अभाव में या कारबार की ख़राबी से कताई को बन्द करना पड़ा है तो कातनेवालों को चोट सी लगी है और वह लोग अच्छे अवसर की बराबर बाट जोहते रहे हैं कि फिर चरखा चलाने को मिले।

१२. कताई असल में खेती का ही बढ़ा हुआ काम है

कुछ ऐसे आलोचक भी हैं जो यह दिखाते हैं कि कताई से सभी तरह की उन्नतियों में बाधा पड़ती है। यहाँ तक कि खेती में भी रुकावटें पड़ती हैं। बेचारे किसान के अभाग्य पर छोह दिखाने का ढोंग रचते हुए ऐसी ही आलोचक सरकार भी बन जाती है और समझदार लोक सेवा करनेवाले को उपदेश दिया करती है कि आप अपना ध्यान कताई की अपेक्षा खेती की उन्नति पर अधिक दीजिए। और उन्नतियों में कताई बाधक है ऐसा मान लेने में जो तर्क-दोष है उसकी पोल आसानी से खोली जा सकती है। यह तो सचमुच बिना कठिनाई के सिद्ध किया जा सकता है कि जब कताई से घर की नेंव मजबूत हो जाती है और उसकी छिपी हुई पैदा करने की ताकत पूरे तौर से काम में आने लगती है तो कताई से सचमुच और सभी के उन्नति के कामों में मदद मिलती है। अभी तक जितने ध्यान से हमने जाँच की है उससे अधिक ध्यान देकर हम बिचार करेंगे कि खेती की स्थिति हमारे देश में ठीक ठीक क्या है।

संवत् १९७८ में खेती की दशा का संक्षिप्त स्थिति पत्र

(१)	१९७८ में पैमाइश करनेवाले को पैमाइश से रकबा	६६,६६,१९,००,० एकड़
(२)	गाँव के कागजों के हिसाब से रकबा	६६,३५,०८,००,० एकड़
(३)	जंगल का रक़बा	८,५४,१९,००,० एकड़

(४) उस ऊसर का रक़बा जिस पर
खेती हो सकती है १५,११,७३,००,० एकड़

(५) रक़बा जिसपर खेती नहीं हो सकती १५,३१,७८,००,० एकड़

(६) परती जमीन ५,०५,५४,००,० एकड़

(७) ज़मीन का रक़बा जिसमें
खेती होती है। २२,३१,८४,००,० एकड़

(८) ज़मीन का रक़बा जो नहरों
से सींची जाती है ४७,७९,०००,० एकड़

यह तो साफ ही है कि देश का एक तिहाई रक़बा जोता बोया जा रहा है। जो रक़बा खेती में है उसका कोई दो तिहाई मात्र खेती के लायक ऊसर बताया गया है। ज़ाहिर है कि यह कम उपजाऊ भूमि होगी और अगर उसमें खेती की भी जाय तो अधिक से अधिक किसान पीछे आधे एकड़ की खेती बढ़ेगी पर इस खेती को काम में लाना आसान नहीं है। क्योंकि इसे काम लायक करने में औज़ार और बैल खरीदने में भारी पूँजी का ज़रूरत है जो न तो भारतीय किसान के पास है और न तो बिना सरकार की सहायता के वह पा सकता है। इसके सिवाय अगर अभी से काम उठाया जाय तो ऊसरों को तैयार करने में दो तीन पीढ़ियों का समय लग जायगा। संवत् १९६४ से १९७८ के पिछले १५ वर्षों में २१·०८८ से २२·३ करोड़ एकड़ खेती बढ़ी। अर्थात् पन्द्रह बरसों में कुल १·८४ करोड़ एकड़ों की बढ़ती हुई। मोटे हिसाब से साल पीछे १० लाख एकड़ बढ़े। जितनी जल्दी अब तक तरक्की हुई है शायद उससे अधिक जल्दी भविष्य में नहीं हो सकती। हम यह देख चुके हैं

कि जोतों के बटवारे के कारण देश में विस्तार से खेती करने की गुंजाइश कम होती जा रही है। खेती के ऊपर दबाव बहुत अधिक पड़ रहा है। मिट्टी से सब तरह का काम निरंतर लिया जाता है और सुसताने की फ़ुरसत नहीं दी जाती। इससे धीरे धीरे ताक़त घटती जाती है और पैदावार की मात्रा भी कमती होती जाती है। जितनी कुछ ज़मीन नफ़े के साथ जोती बोयी जा सकती थी उस पर युगों से खेती हो रही है और किसान के हाथ में विशेष कर पूँजी न होने से उपयुक्त खाद आदि देकर और ताकत बढ़ाकर उसी खेत की पैदावार नहीं बढ़ायी जा सकती। किसान की ग़रीबी से न खाद अच्छी मिलेगी न पैदाबार बढ़ेगी। हमारी खेती में नत्रजन के नष्ट होने के बहुत से रास्ते हैं और वह स्पष्ट हैं। देश के बहुत बड़े भाग में और कोई ईंधन काफ़ी न मिलने के कारण लोग अधिकांश कंडा जलाते हैं। इस तरह बहुत सा नत्रजन नष्ट हो जाता है। हर साल हजारों मन संयुक्त नत्रजन, विशेष कर तेलहन, अनाज हड्डी, खाल आदि के रूप में दूसरे देशों को चला जाता है। यह बहुत भारी नुकसान है। विदेशों से नत्रजन की खाद के रूप में जो कुछ हमारे देश में आता है उससे इस हानि की ज़रा भी पूर्ति नहीं हो सकती।

भविष्य में खेती की उन्नति के लिए तीन बातों की भारी ज़रूरत है। एक तो नियम से निरंतर बढ़ती हुई सिंचाई। दूसरे नत्रजन से भरी खाद, तीसरे खेती की उन्नति करने के विशेष रीतियों का व्यवहार। परन्तु इस समय तो कोई भी बात तुरंत नहीं हो सकती। भविष्य में सिंचाई की ओर से कोई आशा नहीं है। और जितनी योजनाएँ हाथ में हैं वह सब सफलता से काम में भी आवें तो भी वह ९० लाख एकड़ से ज्यादा खेती का रक़बा नहीं

बढ़ा सकतीं। पिछले कुछ बरसों में जो खेती में सुधार किये गये उनसे पैदावार में कोई बढ़ती नहीं हुई। मेकेन्ना ने लिखा है * कि दस बरस के लगातार काम करने का फल यह हुआ कि साढ़े तीन करोड़ की आमदनी बढ़ी। परन्तु यह किसी गिनती में आने लायक़ नहीं है क्योंकि साधारण वार्षिक आमदनी जो खेती से होती है १० अरब रुपयों के लगभग है। इसी के मुक़ाबिले हम लोग दूसरी ओर यह देखते हैं कि किसान अधिकाधिक ऋणी होता जा रहा है। सर एडवर्ड मेकलगन ने संवत् १९६८ में भारतवर्ष के किसानों के ऋण को तीन अरब के लगभग कूता था। यह अटकल वस्तुतः अत्यन्त थोड़ी है। परन्तु यहाँ उसकी शुद्धता पर विचार करना हमारे लिए आवश्यक नहीं है। आज जो दशा है वह स्पष्ट रूप से बिगड़ी हुई है और बिगड़ते जाने के मार्ग पर है। ऋण तो दिन पर दिन बढ़ता ही जा रहा है और उसके ऊपर का ब्याज प्रजा को पीसे डाल रहा है।

हमने संक्षेप से यहाँ तक खेती की दशा का दिग्दर्शन कराया है और इन सब बातों का प्रत्यक्ष फल यह है कि करोड़ों प्राणी निरंतर भूख से तबाह हो रहे हैं। देश की परिस्थिति ऐसी विचित्र हो रही है कि खेती के सुधार का वेग अवश्य ही धीमा रहेगा। उस विदेशी राज्य में जो ज़मीन को राज के लिये आमदनी का अच्छा द्वार समझता है और व्यापारी उद्देश्यों और स्वार्थों को साधने के लिए उपाय बनाये हुए है, खेती का सुधार इतना जल्दी नहीं हो सकता कि उससे लाभ हो। निश्चय ही

* Mackenna "Agriculture of India"

उसे पद पद पर कार्य्यदक्षों की सहायता और सलाह की आवश्यकता पड़ेगी। इतना सब होते हुए भी बेकारी की घड़ियों में काम पहुँचाने का सवाल बना रहेगा और अपने उचित हल के लिए चिल्लाता रहेगा। किसान और उसके परिवार के लिए कोई न कोई काम खोज निकालना पड़ेगा। उस काम को भी ऐसे ढँग का होना होगा कि जिससे अकाल और सूखे के समय के लिए वह कुछ बचा भी सके और उससे जीवन के लिए एक बड़ी आवश्यक चीज़ अर्थात् कपड़ा भी उसे मिल सके। बस, यहीं कताई खेती का बहुत ही उपयोगी विस्तार बन जाती है और गरीबी से सताये हुए घर की कामकाजी मददगार हो जाती है। घर में एक चरखे का होना मानो खेती की जोत का बढ़ जाना है। पानी बरसे या न बरसे घरवालों के लिए चरखा कमाई करता रहेगा।

१३. क्या कताई से मजूरी मिल सकती है?

फिर से कताई की तरफ रुजू होना जीवन की एक व्यावहारिक आवश्यकता को मान लेना है। न इससे कम न इससे ज्यादा। पर यहाँ फिर यह पूछा जा सकता है कि क्या कताई से काफ़ी मजूरी निकल आती है? क्या कताई से राष्ट्र की आमदनी में गिनने लायक बढ़न्ती हो सकती है? काले महाशय ने बहुत जी लगा के यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि यदि चरखा सफल भी हुआ तो उससे जो आमदनी होगी वह गिनने लायक न होगी और यदि पूरी आबादी में बाँट दी जाय तो सिर पीछे १।≈) मात्र पड़ेगी। यह कहना बहुत भ्रमात्मक है और चरखे के विरोध में इसका कोई मूल्य नहीं है। कालेजी के कथन में अर्थ-

शास्त्रीय विचार की कमी है. उन्होंने बहुत सी बातें तर्क में छोड़ दीं। राष्ट्र की बहुत सी बचत और बहुत से लाभों का ख्याल नहीं किया। विदेशी कपड़ों की आयातवाली मालियत के सिवाय उस खर्चे पर विचार नहीं किया है जो विलायती कपड़े को देश भर में फैलाने में लगता है। इस बात पर ध्यान नहीं दिया है कि रुई की पैदावार में भाव के एकदम उतरते चढ़ते रहने से जो चञ्चलता होती है उससे वह बचा रहेगा और उसकी रुई की बिक्री के लिए अपने देश का बाज़ार उसके लिए निरंतर खुला रहेगा। उन्होंने इस बात का भी ख्याल नहीं किया कि आज जो भारी भारी पूँजी विदेशी व्यापार में फँसी हुई है वह मुक्त हो जायगी और खादी के प्रचार से वह और और फलदायक कामों में लगायी जा सकेगी। इन सब बातों पर ध्यान न देने के सिवा विचार विपर्यय के कारण उनमें पक्षपात दोष आ गया। वह जानबूझ कर थोड़ी देर के लिए यह भूल गये कि चरखे के बदले का किसानों के लिए कोई व्यवसाय नहीं है जो सफल होने पर वही नतीजे ला सकेगा जो चरखा लाता। हमारे आयात के चिट्ठे में सब से बड़ी मद सूती कपड़ों की है जो कुल आयात के एक तिहाई के लगभग आते हैं। अगर कोई हाथ कताई के सिवा ऐसा धंधा होता जिसे देहाती लोग अपने बचे समय में करते रहते और उससे राष्ट्र का चरखे की अपेक्षा सिर पीछे ज्यादा मुनाफा होता तो मिस्टर काले की दलील कुछ सार्थक भी होती। तब वह कह सकते कि देखो चरखे में तो केवल १।≈) मुनाफा होता है पर हम जो धंधा बताते हैं उससे २) मुनाफा है। परन्तु काले महोदय यहाँ बिलकुल चूक गये। भारतीय गाँव के जीवन और सामाजिक संगठन की दशा के

बिलकुल अनुकूल सब से उत्तम धंधा अगर हो सकता है तो कताई है जो आसानी से सीखी जा सकती है, जिसके करने में शारीरिक परिश्रम बहुत कम है और जिसमें कोई पूंजी नहीं लगानी पड़ती। सबसे महत्व की बात तो यह है कि देहात के लिए ऋतु के अनुकूल बहुत उत्तम धंधा है जिससे किसान के परिवार को अच्छी ऊपरी आमदनी हो जाती है जो यद्यपि भारी नहीं है तो भी इतनी काफ़ी है कि सूखे और दुर्भिक्ष के दिनों में किसान को उससे विपत्ति झेलने की ताक़त हो जाती है। यदि सब मिला जुलाकर सारे राष्ट्र की दृष्टि से देखा जाय तो कताई का अर्थ बहुत विशाल हो जाता है। तब कताई का अर्थ होता है भारी से भारी पैमाने पर नयी सम्पत्ति पैदा करना और देश को बरबाद करके बाहर की ओर बराबर बहती जानेवाली धन की धारा को रोकना। व्यक्ति की दृष्टि से भी इसका परिणाम बहुत लाभदायक है। सम्पत्ति जिस तरह से वर्तमान समय में व्यक्तियों में बँटती है उससे अधिक समानता और न्याय से बँटेगी जिससे गरीब आदमी की हालत सुधरेगी और उसकी सामाजिक दशा पहले से अच्छी हो जायगी।

संक्षेप में हाथ-कताई और हाथ के कते सूत की बुनाई को फिर से लोक में रवाज देने से जो लाभ होंगे और सुभीते हैं वह यह हैं।

१४. चरखे से जो सुभीते होंगे उनका संक्षिप्त वर्णन

(१) किसानों में से एक बहुत भारी संख्या को बरस में तीन महीने से लेकर छः महीने तक कोई काम नहीं रहता और सुस्ती

में काटना पड़ता है। उनके लिये कताई सब से उत्तम धंधा है। कड़ा दुर्भिक्ष या सूखा पड़ जाने पर सारे समय कातते रहने से कताई से फ़ायदा भी हो सकता है। **चरखा कातना बेकारी को काम में और निर्धनता को धन में परिणत करना है।**

(२) बरस में कम से कम ६० करोड़ रुपये का विदेशी कपड़ा आता है। इस तरह ६० करोड़ रुपये विदेशों में चले जाते हैं। धन के इस बहाव को चरखा रोकता है। हमारे देश के लोगों में कारीगरी का बल और उसमें कुशलता है। कताई का काम इस बल और दक्षता की रक्षा करता है।

(३) कपड़ा जीवन की पहली आवश्यकताओं में से है। सूत की कताई उसकी जड़ है।

(४) कताई सहज ही सीखी जा सकती है और व्यवहार में लायी जा सकती है। बूढ़े, बच्चे, जवान, स्त्री, पुरुष सब के लिए यह काम उपयुक्त है।

(५) यह एक ही ऐसा धन्धा है जो सबके लिए उपयुक्त है और तो भी यह राष्ट्र की समृद्धि को बड़ी तेजी से बढ़ाता है।

(६) कताई का यह मतलब नहीं है कि किसी नित के अधिक मुनाफे के धंधे की जगह ले ले। यह तो केवल बुरे समय की सुस्ती और बेकारी की जगह ले लेता है। इधर हमारे मानसिक भाव ऐसे हो गये हैं कि हम अपने को असहाय समझते हैं। किसी काम में आगे बढ़ना नहीं चाहते और लगातार उद्योग नहीं कर सकते। कताई ऐसे मनोभाव को नष्ट कर देती है। राष्ट्र में आगे बढ़ने की हिम्मत आ जाती है और लगातार काम से जी नहीं घबराता।

१५. प्रोफेसर शाह का चरखे से विरोध

भारतवर्ष का अर्थशास्त्र वस्तुतः देहात का अर्थ-शास्त्र है और देहात की भारी आबादी में हाथ के काम करने की जो छिपी समाई है उसका जिस किसी उपाय से सदुपयोग हो, भारतीय अर्थ-शास्त्र की दृष्टि से वह बड़ा अनमोल हथियार और भारी सम्पत्ति होगी। दो भिन्न भिन्न पुस्तकों में दो जगह बम्बई के प्रोफेसर के० टी० शाह ने चरखे की चर्चा की है। उनकी पहले की छपी पोथी में जो चर्चा है उसमें करघे और चरखे के बीच लगातार गड़बड़ है जो उनकी योग्यता के अनुकूल नहीं दिखाई पड़ता। उनकी दूसरी पुस्तक भारत की सम्पत्ति और कर देने की समाई पर लिखी गयी है। उसमें फिर वह चरखे पर चढ़ाई करते हैं और यद्यपि वह बहुत ही मर्य्यादित अर्थ में सहायक धंधे के तौर पर उसकी उपयोगिता को क़बूल भी करते हैं, तब भी वे कहते हैं कि—

"मेरे विचार में चरखा यदि राष्ट्र को निराशा की दशा नहीं प्रगट करता तो अवश्य ही उसकी निस्सहायता को प्रगट करता है। अगर ऐसा न होता तो राजनीतिक लोग केवल इसलिए कि इस धंधे को किसी प्रकार चलते रहने का मौक़ा मिले बढ़ी हुई आबादी को खेती से निकाल कर कताई में लगानेवाले लाभहीन और दक़ियानूसी तरीक़े पर क्यों ज़ोर देते।"

इसका सीधा जवाब तुरंत दिया जा सकता है कि चरखा ऐसा कोई काम नहीं करना चाहता जिससे बढ़ी हुई आबादी को खेती से निकलकर चरखे में लगना पड़े। वह आबादी तो खेत के काम में ही रहेगी। परन्तु जिन समयों में उसे खेत में

कोई काम करना न रहेगा उन समयों में वह चरखे से अधिक रोजी पा सकेगी। प्रोफ़ेसर शाह चरखे के बदले में काम भी बताते हैं। खेती करनेवाली आबादी जो बढ़ गयी है उसे सुधार की योजनाओं में लगाने का प्रस्ताव करते हैं जिसमें आसाम की चाय की खेती और विदेशी पौधों की कृषि, बिहार और बरमा की खान की खोदाई और जंगल-विभाग और दूसरे प्रान्तों में इसी तरह के औद्योगिक जूए शामिल हैं। यदि शाह महोदय की बतायी बातें मान भी ली जायँ तो भी उनका कार्य्य-क्रम वर्षों का नहीं बल्कि पीढ़ियों का है। यह कोई नहीं समझ सकता कि चरखे के बदले यह योजना कैसे रक्खी जा सकती है। यहाँ यह भी बताने लायक बात है कि मद्रास के लिए प्रोफेसर शाह ने कोई औद्योगिक निकास नहीं सोच पाया। उनकी राय में मद्रास की आबादी का एक अंश बरमा में जाकर काम खोजे और उन्हीं में घुल मिल जाय। इस सम्मति से उनका सारा वाद व्यर्थ हो जाता है और किसी पागल सम्राट की याद दिलाता है जो एक बार दिल्ली की आबादी को दौलताबाद में बसाने के लिए कमर कस कर खड़ा हो गया था।

१६. कताई से क्या क्या हो सकता है ?

इन सब बातों पर विचार होने के बाद अभी एक बात और विचारणीय रह जाती है। क्या चरखे के द्वारा कपड़े के विषय में भारतवर्ष कभी बिलकुल स्वावलम्बी हो सकता है? या यों कहिये कि आज तक के निकले मशीनों और मिलों की चढ़ा ऊपरी में मुकाबिला करने का हाथ की कताई को भी कोई अवसर है?

यह शुरू ही में कहा जा सकता है कि एक माने में तो खद्दर में और मिल के कपड़ों में किसी तरह की पारस्परिक होड़ हो नहीं सकती। जिस तरह घरों की रसोई व्यापारी चढ़ा ऊपरी से कोई सरोकार नहीं रखती उसी तरह हाथ की कताई भी व्यापारी चढ़ा ऊपरी से बाहर है। यह वह क्रिया है जो बाहरी ताक़तों से विचलित न होगी। जैसे रुपया भोजन का स्थान नहीं ले सकता वैसे कल पुर्जे कताई का स्थान नहीं ले सकते। बिल्कुल दूसरे मानी में मशीन के कपड़े और खद्दर में सच्ची होड़ होनी सम्भव है। परन्तु यहाँ भी यह याद रखना चाहिये कि कताई को फिर से जिलाने का ख़ास मतलब यह है कि देहातों में राष्ट्र की जो हाथ की कारीगरी की ताक़त सो रही है उसे जगा दिया जाय। कताई छूट गई तो मानों प्रजा का एक अंग बेकार हो गया। इस समय जतन यही है कि वह फिर काम करने लगे। "क्या मशीन की ताक़त के सामने भी कताई सफल हो सकेगी?"* इस प्रश्न का उत्तर अधिकांश इस बात पर निर्भर करेगा कि हम यह विचार

* ८ वीं मार्च सन् १९२२ की यंग इन्डिया में सर डानियल हेमिल्टन ने एक बड़े काम की बात लिखी है जो इस संबंध में इस पुस्तक के पाठकों के पढ़ने योग्य है। "भारतीय देहाती जीवन के अपने व्यक्तिगत अनुभव से मैं कह सकता हूँ कि आजकल के धन की सहायता से अगर मौका दिया जाय तो चरखा ही नहीं करघा भी भाप के ताक़त से होड़ में जीत सकता है। कारण यह है कि चार महीने अभी बेकार जाते हैं। उनमें कोई खर्च नहीं है पर उनमें काम बहुत हो सकता है। जिस अनाज और कपड़े में केवल कच्चे माल का दाम लगे उससे ज्यादा सस्ता और क्या हो सकता है।

कर लें कि क्या हम बड़े पैमाने पर कताई को जिला सकेंगे अथवा जनता में इसे सचमुच व्यापक बना सकेंगे और ऐसा यदि सम्भव हुआ तो उससे क्या क्या परिणाम हो सकेंगे। देश भर में हाथ की कताई के लिए जो सुभीते मौजूद हैं उनकी तो गिनती नहीं हो सकती। भविष्य की सम्भावनाओं और ताकतों का परिचय देनेवाले कुछ सुभीते यह हैं।

(१) कच्चा माल रुई या तो चरखा चलानेवाले के खेत में ही होती है या उसके द्वार के पास ही किसी पड़ोसी से मिल जाती है।

(२) चरखा ऐसा सीधा सादा यंत्र है कि गाँव में ही बन और सुधर जा सकता है।

(३) बच्चों और बूढ़ियों से लेकर परिवार के सभी लोग जब चाहे तब और जहाँ चाहे वहाँ सहज में लेजा सकते हैं और चला सकते हैं।

(४) चरखा चलाने में दिमाग पर कोई जोर नहीं पड़ता, शरीर में थकान नहीं आता, वेगार नहीं मालूम होता और चलाते चलाते आदमी जब चाहे तब बंद भी कर सकता है।

(५) कुशल हाथों में भारतीय रुई की बहुत साधारण जातियों से भी बारीक से बारीक सूत कत सकता है।

(६) सूत को खर्च करनेवाला कातनेवाला स्वयं हो सकता है या उसके पड़ोसी भी हो सकते हैं।

(७) भारत के दूर से दूर कोनों में भी परम्परा से दक्ष बुनकार मिल जाते हैं।

इस झोंपड़ों के उद्योग के पक्ष में सभी बातें कही जा सकती

हैं। राष्ट्रीय दृष्टि से इस में सभी सुभीते हैं और विस्तृत जाँचके लिए यही बात रह जाती है कि क्या यह हर भारतीय घर में जारी किया जा सकता है।

१७. चरखे और करघे की ताकत की अटकल

आरम्भिक जाँच के लिए यह प्रश्न होगा कि किसी हद तक अभी तुरन्त ही इस काम को व्यापार साध्य करने के लिए क्या काफ़ी चरखे और करघे देश में हैं। यहाँ पर विशेष कठिनाई विचार के लिए ज्ञातव्य अङ्कों की है। हम लोग अधिकांश काल्पनिक अटकल लगाया करते हैं। जितनी संख्या में चरखे इस समय चल रहे हैं उससे ठीक ठीक यह कल्पना नहीं हो सकती कि उनको काम में लाने के लिए कैसे और किस तरह के साधन हमारी पहुँच में हैं। पंजाब, तामिलनाड्र, आंध्र, बिहार, कर्नाटक और राजपूताना चरखे के लिए सोने की खानें हैं। यद्यपि इन प्रान्तों की ताकत की अटकल अभी तक ठीक ठीक नहीं लगायी जा सकी है तो भी यह कहा जा सकता है कि इनकी ताकत भारी और बहुत ज्यादह है। खद्दर के बहुत से अनुभवी काम करने वालों ने अपनी कल्पना से जो अटकल लगायी है वह बहुत घटा कर लगायी है। उनके अनुसार सारे देश के लिए पचास लाख चरखे देश में मौजूद हैं। हमलोग उसी अटकल को अपनी जाँच के लिए प्राथमिक साधन मान लेते हैं। यह पचास लाख चरखे यदि चार से पाँच घंटे तक रोज़ चलें और धीरे चलने और बिगड़ जाने आदि का अंदाज़ बाद देकर हिसाब लगावें तो औसत १६८० गज़ या दो अट्टियाँ पन्द्रह नम्बर के लगभग ज़रूर निकलेंगी। या यों

कहिये कि तकुआ पीछे साल में चौवीस सेर सूत कतेगा जिससे गज भर पनहे का कम से कम १९२ गज खद्दर बन सकता है। स हिसाब से जोड़ कर इन चरखों से ९६ करोड़ गज़ से ज्यादा खद्दर निकलेगा जो कि विदेशों से मँगाये हुए कपड़े की दोतिहाई के लगभग होता है। क्योंकि संवत् १९७९ में विदेशी कपड़ा १५७ करोड़ गज़ आया। इस तरह अगर हम मान लें कि देश में जितने चरखे मौजूद हैं वह केवल चार घंटे रोज़ चलाये जाँय तो आज जो कपड़ा विदेशों से आता है वह सहज में यहाँ ही तैयार हो जाय। चरखे में भविष्य के लिए बहुत भारी ताक़त मौजूद है। हाथ के करघों के सम्बन्ध में तो हमको ज्यादा ठीक खबर है। हाथ के बुनकार मशीन के बने हुए कपड़े के मुकाबले में इतने दिनों से बराबर ठहरे हुए हैं यह बात निर्विवाद है। इस धंधे में जीवन शक्ति ऐसी प्रबल रही है कि कम से कम साठ लाख प्राणियों को यह आज तक सम्हालता रहा है। संवत् १९७८ की मर्दुमशुमारी की रिपोर्ट में हमारे देश के कम से कम ग्यारह प्रान्तों के ऐसे करघों की लगभग शुद्ध संख्याएँ दी गयी हैं जिन पर काम हो सकता है।

प्रान्त	करघों की संख्या
१—अजमेर	१५८७
२—आसाम	४,२१,३६७
३—बंगाल	२,१३,८८६
४—बिहार और उड़ीसा	१,६४,५९२
५—ब्रह्मदेश	४,७९,१३०
६—दिल्ली	१,६६७
७—मद्रास	१,६९,४०३

८—पंजाब	२,७०,५०७
९—बड़ौदा	१०,८५७
१०—हैदराबाद	१,१५,४३४
११—राजपूताना	८९,७४१
कुल जोड़	१९,३८,१७८

जो अंक दिये हुए हैं उनमें बरार, मध्यप्रान्त और संयुक्त प्रान्त की गिनती नहीं है। इन्हें अगर गिनती से निकाल भी दें तो देश में २० लाख हाथ के करघे हैं जिन पर अगर करघा पीछे एक हज़ार गज खद्दर निकले तो जितना कपड़ा विदेश से आता है उससे कहीं अधिक बढ़ जाय। हमने एक हज़ार गज़ तो कम आंका है, बहुत से करघे १३ हजार गज़ निकाल सकते हैं। अब पाठक देखेंगे कि हमारे देश में हाथ के करघे और चरखे इतने काफी हैं कि हम हर तरह पर खद्दर को व्यापक कर देने की कोशिश कर सकते हैं। देश के पास एक और चीज़ की बड़ी जरूरत समझनी चाहिये यानी जिन कपड़ों की आवश्यकता है उनके बुनने की कुशलता, सो भी देश में मौजूद है। कातनेवाले और बुननेवाले दोनों ही बाट जोह रहे हैं कि उनका संगठन किया जाय और दोनों में पुरानी कारीगरी इतनी तेजी के साथ फिर से जी सकती है और बढ़ सकती है कि मशीन पर बने हुए कपड़े का स्थान तुरंत लेने के लिए खद्दर का तैयार हो जाना असम्भव नहीं है।

१८. धंधे की आदर्श अवस्था

देश में इस काम के लिए जो बड़े२ साधन मौजूद हैं उनको काम में लाने के लिए पूँजी के लगाने की भी बड़ी आवश्यकता है। परन्तु

इससे भारी आवश्यकता इस बात की है कि चरखे के प्रचार के लिए जो संगठन किया जाय वह बहुत पक्का और पोढा हो। कताई हमारे गाँवों का सनातन धंधा था। उसके जीवन में पिछली तीन चार पीढ़ियों तक उसकी मूर्च्छा की अवस्था रही है। हम अगर चाहते हैं कि पहले की तरह इस धंधे का जीवन जारी रहे, फिर से चेत कर ज्यों का त्यों हो जाय तो हमें फिर से वही दशाएँ लानी पड़ेंगी जो सैकड़ों बरस पहले थीं और हमारे गाँवों के जीवन के रस्मरिवाज और स्वभाव के बिलकुल अनुकूल मालूम पड़ती थीं। पुराने जमाने में जो कताई और बुनाई में अद्भुत सादापन और अनुपम सुन्दरता थी वह इसी बात में थी कि बहुत भारी और इकट्ठी पूंजी की कोई जरूरत न थी और किसी भारी एक स्थानीय संगठन का कोई काम न था। जहाँ जिस स्थान में जैसी माँग हुआ करती थी पूरा और ठीक ठीक वैसा ही माल तैयार होकर वहीं मिल जाता था। अमीर घरों की स्त्रियाँ कातती थीं कि जी बहले और सूत घर के काम में आवे और गरीब लोग भी कातते थे कि कपड़े पहनें और सूत बेंचें। घरों में काफ़ी रुई जमा रहती थी इसलिए किसी पूंजीवाले संगठन की ज़रूरत न थी कि रुई इकट्ठी कर करके बेचने का प्रबन्ध करे। कातने और बुननेवाले पास पास पड़ोसियों की तरह रहते थे और बुननेवालों को जितनी ज़रूरत होती थी कातनेवालों से सूत ले लेते थे। उनको रुपया देने के लिए किसी बिचवई की जरूरत न थी। माँग और खपत दोनों की दोनों अपने आप सध जाते थे। माँग का हाल मालूम था और जैसी आवश्यकता हुआ करती थी उसी के अनुसार कारीगर काम किया करता था। कोई केन्द्रीभूत संगठन नहीं था। गाँव-गाँव और स्थान

स्थान की माँग और खपत अपनी अपनी जगह में ही सधी हुई थी। इसमें जितने काम करनेवाले हैं वह सब के सब स्वाधीन थे और अपने मन से काम करते थे।

१६. कताई के संगठन के बँटे रहने की जरूरत है

हमारी सारी कोशिशों का यही लक्ष्य होना चाहिये कि कताई के संगठन जगह जगह बँटे रहें*। कोई एक तरह का भी काम किसी एक केन्द्र में इकट्ठा न हुआ करे। इसका मतलब यह है कि जहाँ जहाँ थोड़ी बहुत कताई सदा से बराबर चली आ रही है उन जगहों से हम पूरा लाभ उठायें। भिन्न भिन्न प्रान्तों में इस समय कताई विविध दशाओं में जीवित है और हर प्रान्त में कताई में जिस तरह आसानी, आराम और सरलता पायी जाती है वही इस बात की पहचान होगी कि किन हदों के भीतर कताई का काम किस विशेष प्रकार से बँटा रहे। जैसे आसाम प्रान्त के नवगाँव में आज भी दस्तूर है कि रुई देकर बदले में कपड़ा लेते हैं। इस दस्तूर का नाम अद्धी है। अर्थात् गाँव के किसी कारीगर के घर अपनी कपास देदी वहाँ वह ओटी जाती है, फटकी जाती है और धुनी जाती है, काती जाती है और बुनी जाती है अन्त में जितना कपड़ा बुन जाता है उसका आधा तय्यार करने वाला मजूरी में ले

---

* बीते काल में इस धंधे की ऐसी ही दशा थी और आगे कताई के फैलने पर भी यही दशा होनी चाहिये। इसका मतलब यह कभी नहीं है कि जिस वर्तमान कालमें हम कताई को व्यापक बनाना चाहते हैं उसमें इसी मतलब को पूरा करने के लिए कोई एक जगह कायम, नियामक, नीरीक्षक और निर्देशक संगठन और संस्थाएँ न बनावें।

लेता है और आधा उसे मिलता है जिसने कपास दी है। आन्ध्र प्रान्त में और तामिलनाडू के कुछ भागों में भी आज तक दस्तूर है कि विशेष परिमाण के ताने खुले बाजार में बिकते हैं। यह दस्तूर आसाम की अपेक्षा भद्दा है। यहाँ भरनी के सिवाय बाकी कुल काम कातनेवाली झोपड़ी ही में हो जाता है। आसाम की विशेष दशा ऐसी है कि हर घर कताई का कारखाना हो गया है। यहाँ तो मामला हद को पहुँच गया है और यह आशा नहीं की जाती कि भारत के और भागों में ऐसी ही दशा हो सकेगी। विकेन्द्रीकरण अर्थात् जगह जगह काम बँटने की और पूरा काम होने की वहाँ हद हो गयी। परन्तु इससे कम दरजे की अवस्था यह है कि कातनेवाले अट्टियाँ, लच्छियाँ या गोले बना कर या सीधी खुखड़ी ही बुनकार को दे देते हैं। वह परेते पर चढ़ाता है और ताना तनने तक सारा काम करता है। यह बात पंजाब बिहार, और दक्षिण भारत के अधिकांश भागों में देखी जाती है। यह हो सकता है कि किसी के बिचवई पड़े बिना ही बुनकार सूत सीधे खरीद ले और बाजार में बेंच दे। इससे भिन्न अब तक चाल जारी है कि कातनेवाला आप ही धुन भी लेता है। परन्तु इतना ग़रीब है कि काफ़ी रुई अपने लिए न तो जमा कर सकता है और न आप सूत ही बेंच सकता है। इससे भी कम विकेन्द्रित दशा यह है कि कातनेवाले घर को धुनिया पूनियाँ दे जाता है। वह कात कर सूत धुनियाँ को देते हैं। इन विविध रूपों में कताई अब तक जी रही है और देश में चल रही है। हाँ, इस हद तक नहीं चलती कि टिकाऊ रोजगार समझी जाय। हमारे काम का आरम्भ इन्हीं हदों के भीतर होना चाहिए और अगर हर प्रान्त या क्षेत्र की विशेष रीति और रवाज

के अनुसार धीरे धीरे विकेन्द्रीकरण किया जाय, काम को जगह जगह बाँटा जाय तो आज के खद्दर के आन्दोलन को नित नये सुभीते मिलते जाने में कोई सन्देह नहीं है।

२०. कातनेवाले का कपास जमा करना बेकारी का बीमा है।

कताई के धंधे को जगह जगह बाँटने की क्रिया में सब से पहला काम यह है कि कातनेवाले के लिए रुई अलग किसी केन्द्र में जमा करने की जरूरत को उड़ा दिया जाय। यह केवल पहला कदम ही नहीं है बल्कि यह वह नींव है जिसके ऊपर सारी इमारत मज़दूरी के साथ टिक सकती है। भारतवर्ष में हमारे कातनेवालों में भारी आबादी उन्हीं लोगों की है जो या तो आप ही कपास उपजाते हैं या कपास के खेतों में मजूरी करते हैं। कुछ लोगों को तो मजूरी के बदले कपास ही मिलती है। जिनके ज़मीन है कपास की फसिल काटते हैं और जिन प्रान्तों में या ज़िलों में कपास नहीं होती उनमें कातनेवालों की गिनती भी बहुत नहीं है। यह तो हम मानते हैं कि ऐसी जगहें हैं कि जहाँ कातनेवाले इतने ग़रीब हैं कि अपने लिए कपास नहीं ज़मा कर सकते और कुछ दिनों तक मदद की ज़रूरत होगी तभी वह अपने पाँवों पर खड़े हो सकेंगे। जहाँ जहाँ ऐसा बन्दोबस्त हो जाय कि कातनेवाला अपने लिये कपास आप ही जमा कर लिया करे, वहाँ तो भारी सुभीते होंगे। इन सुभीतों पर विचार करना चाहिये। पहिला लाभ तो यह होगा कि अभी जो भारी भारी रक़में रूई के बटोरने

और जमा करने में लगतीं हैं और उनमें से जितना बे मतलब खर्च होता है वह बच जायगा। और यह ढंग बन्द हो जायगा। अगर हमें देश के लिये ५० या ६० करोड़ रुपए का खद्दर तैयार करना मंजूर है तो निश्चय ही हमें रुई बटोरने और जमा करने के लिए आरम्भ ही में कई करोड़ रुपयों की पूँजी लगानी पड़ेगी। पर अगर हर कातनेवाला अपनी कपास जमा करने लगेगा तो इस बड़ी पूँजी के लगाने की ज़रूरत न पड़ेगी। इसके सिवाय इन कामों के लिये जो बन्दोबस्त और दफ्तर रखना पड़ता है, रुई के गोदाम की बीमा कराई देनी पड़ती है और इसी तरह के जो और खर्च होते हैं बच जायँगे। इन्हीं बेकाम खर्चों के कारण तो कताई घटानी पड़ती है। ऐसी अवस्था पर हम तुरन्त ही चाहे न पहुँच सकें परन्तु अभी से इस बात की कोशिश करनी चाहिये कि रुई के भारी भारी गोदाम रखने की ज़रूरत भरसक कम पड़े। इसके सिवाय रुई जमा करने में भाव के आये दिन के चढ़ाव उतार का निरन्तर प्रभाव पड़ता रहता है। जिस मौसिम में दर चढ़ती रहती है उस समय बड़े पैमाने पर माल तैयार करनेवाले अपने मुनाफे की चाल पर अपने काम को बेहद घटाये रहते हैं। गोदाम से घड़ी घड़ी रुई लेकर कातनेवाले भी भाव की चंचलता से बचे नहीं रह सकते। संवत् १९८० में क्या हुआ? उस समय एकाएकी रुई का भाव चढ़ गया। तो कई खद्दर बनानेवालों को अपना काम घटाना पड़ा। जब ऐसी दशा आजाती है तब रुई न मिलने से कातनेवाला बेकार हो जा सकता है। परन्तु यह आये दिन की ज़बरदस्ती की बेकारी उस कातनेवाले को नहीं सताती जो फसिल पर अपने

लिए कपास जमा कर रखता है। कपास जमा कर लेना इस तरह बेकारी का बीमा है। जिसने फसिल के ऊपर कपास जमा कर ली है वह आप ओट लेता है और ओटाई की मजूरी और बीज उसी की चीज हो जाती है। अच्छी कपास के बीज संग्रह करना किसान की गृहस्थी में थोड़ा फ़ायदा नहीं है। इस तरह संग्रह करके और ओट के कातनेवाला रुई के चढ़े हुए भाव के समय में अपना सूत महँगा बेच कर ज्यादा फ़ायदा उठा सकता है। और जब भाव गिर जाय उस समय जो कुछ मेहनत करे और सूत काते सब अपने परिवार के काम में ला सकता है। चाहे किसी दृष्टि से देखा जाय लाभ कातनेवाले ही का है। इस तरह कातनेवाले ही के लाभ के लिये एक बहुत बड़े सिखानेवाले और फ़ैलानेवाले आन्दोलन को ज़रूरत है कि उसके मन में यह बात अच्छी तरह से बैठा दी जाय कि कच्चे माल के लिये वह किसी दूसरे का भरोसा न करे। बल्कि वह आप ही चुन करके उत्तम से उत्तम कपास फसिल पर अपने काम भर इकट्ठा कर ले। अभी जब हम कुछ साल इस रीति को चला रहे हैं इतने समय भर तो निश्चय ही गरीब कातनेवालों को किसी हद तक सुभीता देना पड़ेगा और उनके लिये रुई इकट्ठी करनी पड़ेगी।

परन्तु बराबर ऐसा करते हो रहने से कातनेवाला बेचारा पराधीन हो जायगा *। जहाँ कातनेवाला अत्यन्त दरिद्र है वहाँ

---

* गाँव का धुनियाँ कभी कभी रुई जमा करनेवाला भी बन जाता है। दक्षिण के करनूल ज़िले के नगलापुरम् केन्द्र के गावों में धुनियाँ या पिंजरी ने ऐसा काम करना शुरू कर दिया है। वह कारीगर भी है और

तो बाहर से उसकी मदद होनी ही चाहिये। परन्तु अपने भाई की तरह उसे भी शिक्षा मिलनी चाहिये कि कपास को एक तरह के आहार की फसिल समझे क्योंकि कपड़ा शरीर के बाहर का वैसा ही आहार है जैसे अन्न शरीर के भीतर का और एक दफे जब कातनेवाले परिवार के दिल में यह बात जम गयी कि कपास की खेती की भी वैसे ही विवेक से सेवा करनी चाहिये जैसे अन्न की खेती की की जाती है तो फिर उस परिवार को इस बात में देर न लगेगी कि सूत के मेलों और बाजारों के पुराने बन्दोबस्त की ओर फिर से झुक जाय।

२१. माल की चोखाई और भाव, कपास जमा करना

जब कातनेवाला कपास इकट्ठा करना सीख जायगा तो हाथ के कते सूत की चोखाई भी बड़े जोरों से बढ़ेगी। कपास तो कातनेवाले की सम्पत्ति होगी। फिर तो कातनेवाला बड़ी देख भाल रखेगा, बड़ी किफायत बरतेगा और कच्चे माल से उत्तम से उत्तम काम लेगा। सूत की तैयारी में वह स्वाधीन है। अपने माल का मालिक है। उसे अधिकार है कि अपने माल को अच्छे से अच्छे दामों पर बेचे। फिर तो सूत बहुत उत्तम कतने लगेगा।

बिचवई भी है और दोनों तरह से लाभ कमाता है। दो चार मन रुई अपने पास रख लेता है और धुन कर उनकी पूनियाँ बना लेता है और कातनेवालों में बाँट देता है और फिर कता हुआ सूत भी इकट्ठा कर लेता है। इस तरह वह विक्रेता भी हो गया और व्यापारी भी बन गया है। अब वह निष्फल मेहनत पर जीनेवाला और बैठे नफा खानेवाला आदमी नहीं रह गया।

उसमें तुरन्त ही सुधार होने लगेगा। कपास की ओटाई और सफाई बहुत ध्यान से होने लगेगी। जिस समय कपास की फसिल नहीं है, भाव चढ़ा हुआ है और उसके पास शायद काफ़ी कपास जमा नहीं है तो वह अत्यन्त बारीक और एक रस सूत इसलिये कातेगा कि दोहरा फ़ायदा हो। उसके पास की जमा रुई कम लगे या सँभल कर खर्च हो, और उत्तम से उत्तम सूत भी कते जिसमें भारी दामों को बिके। आजकल कातनेवालों को जो रुई बाँटने की विधि है उससे सूत के खराब होने में कोई रुकावट नहीं होती। कातनेवाला अपनी मजूरी भरपर निगाह रखता है और अपने को केवल मजूर समझता है। हम थोड़ी सी अनुभव की बातें यहाँ लिखते हैं। पाठकों को जान कर लाभ होगा। तिरुप्पुर कताई का एक क्षेत्र है। वहाँ की दशा से हम इस बात का मुकाबला करते हैं कि जब कातनेवाला अपनी ओर से रोजगार करने लगेगा तो क्या अवस्था होगी।

"संवत् १९८२ की स्थिति"

आध सेर सूत का दाम		इस तरह हुआ
१) बारह नम्बर के लिये।	॥-)॥	करुनगन्नी रुई का दाम बाजार भाव पर।
	।-)	कताई
	-)॥	दफ़तर और बन्दोबस्त खर्च
	१)	

जब कातने वाला स्वाधीन होगा

आधा सेर सूत का दाम	इस तरह हुआ
॥।-)॥ बारह नम्बर के लिये।	।≡)॥ दाम ३० छटांक कपास का गाँव के फुटकर भाव पर
	।=) कताई और ओटाई
	(इससे अच्छा सूत होगा तो और अधिक लाभ होगा।)

नोट—इस दूसरी दशा में कातनेवाले के पास सवा सेर कपास के बीज बच रहे जिसके वह दाम खड़े कर सकता है।

जो अंक ऊपर दिये हैं वास्तविक अनुभव से लिखे गये हैं। यह बात बहुत पक्की है कि कातनेवाला जब कपास जमा करने लगेगा तो सूत और कपड़े की दर बहुत जल्दी गिर जायगी। और अपने साथ साथ इस रीति में इतने तरह की किफायत है कि बहुत बड़ी बड़ी मात्राओं में बाजार में सूत और खद्दर आने लगेगा। कातनेवाले की आमदनी बढ़ जाती है और राष्ट्रीय संगठन में कातनेवाला स्वाधीन और अपना कारवारी बन जाता है। वह न केवल अपने लिये बल्कि राष्ट्र के लिए भी। इस ढंग पर खद्दर की तैयारी अवश्य ही ज्यादा सस्ती होगी, और सब लोगों के लिये लाभकारी होगी, एक ओर तो पहिरनेवाले के लिए और दूसरो ओर खद्दर बुननेवाले के लिये।

२२. रुई के काम में किफ़ायत

रुई को काम में लाने में ही बड़ी किफायत की गुंजाइश है। इसी सम्बन्ध में महीन और मँझोली कताई की किफायत को बड़ी सावधानी से समझना चाहिये। यह सब को मालूम है कि

सूत की बारीकी उसके नम्बर से समझी जाती है। एक हैंक या अट्टी ८४० गज़ों की होती है। पौंड भर तौल * के बराबर गिनती में इस तरह की जितनी अट्टियाँ चढ़ें उतना ही सूत का नम्बर होता है। बीस बीस चढ़े तो बीस नम्बर हुआ। चालीस चढ़े तो चालीस नम्बर हुआ। यह न समझ लेना चाहिये कि किसी तरह की रुई लेकर जितना बारीक और जिस तरह का चाहिये उस तरह का सूत काता जा सकेगा। हर तरह की रुई के लिए एक हद होती है जिस हद तक वह बारीक काती जा सकती है। अगर उस हद के बाहर कताई की जाय तो सूत कमजोर हो जायगा और बुनाई के काम का न रहेगा। मिल की कताई के जो प्रमाण हैं वह प्रमाण हाथ की कताई में नहीं लग सकते। मिल में रुई के रेशों पर कताई के पहिले इतनी विविध क्रियाएँ होती हैं कि जो नतीजा चरखे से कातने पर देखने में आता है वह मिलों की कताई में नहीं देखने में आता। जैसे चरखे पर जिस रुई से हम बीस नम्बर तक का अच्छा सूत कात ले सकते हैं मिलों में उसी रुई से दस या बारह नम्बर से अधिक नहीं कात सकते। मिलों में जिन छोटे रेशेवाली रुइयों से केवल मोटी ही कताई हो सकती है उन्हीं रुइयों से चरखे से मझोली कताई भी हो सकती है क्योंकि हाथ से कातनेवाला रेशों को बड़ी कोमलता से पकड़ता है। लम्बे रेशोंवाली रूई में तो हाथ से कातने-वालों को ही सुभीता है। लम्बे रेशोंवाली रुई से मोटा सूत कातना और छोटे रेशोंवाली रुई से मझोला या बारीक सूत

* अंग्रेजी तौल पौंड आध सेर के लगभग होता है। आधसेर ४०) भर होता है, परन्तु पौंड ३८·८९ रुपये या ३८|||=) भर होता है।

कातना यह दोहरी भूल है *। इस दोहरी भूल से बचना बहुत जरूरी है। अर्थशास्त्र का नियम है कि अच्छी रुई से जो कोई मोटा सूत काते उसे सजा दी जाय, बहुत ही लाभकारी है। और ऐसा अच्छा है कि हमारे देश में जितने खद्दर संगठन हैं उनके दफ़तरों के फाटक पर मोटे मोटे सुनहरे अक्षरों में लिख देना चाहिये।

२३. बारीक और मझोले नम्बरों का सुभीता

इस बात पर विचार करते हुए कि दस नम्बर से ऊँचे नम्बर की कताई अधिक लाभकारी है, श्रीसतीशचन्द्रदास गुप्त अपनी खादी की पुस्तक में यों कहते हैं—

"हम लोगों को किस नम्बर का सूत कातना चाहिये इस पर हमें विशेष रूप से ध्यान देना उचित है। इस समय ऊँचे नम्बर के कातने की धुन है। लेकिन बहुत ऊँचे नम्बरों के लिये कोशिश करना हम लोगों के लिये पागलपन है। इस आन्दोलन का

---

* जिस प्रदेश में जिस तरह की रुई पैदा होती होगी उस प्रदेश में वैसी ही कताई भी होगी। संभव है कि इस समय रुई की खेती की पहिचान कताई न हो क्योंकि इस समय तो केवल बाहर भेजने के लिये ही कपास की खेती होती है जैसे, बुकानन के समय में कोयम्बतूर जिले में अधिकांश नादन कपास होती थी जो किसानों की मोटी कताई के लिए उपयुक्त थी परन्तु आज वहाँ अधिकतर करुनगन्नी और कम्बोडिया की खेती होती है, क्योंकि यह बाहर भेजी जाती है। कताई के फिर से जारी होने से यह आशा की जा सकती है कि नादन कपास भी होने लग जायगी।

उद्देश्य यह है कि सैकड़ा पीछे ८० आदमी अपने काम के लिये सूत कात लें और ये आदमी साधारण देहाती होंगे। इसलिये बहुत बारीक कातने की धुन उल्टी समझ का फल मालूम होता है। ६ से १० तक और १० से २० तक और २० से ३० तक कताई में नम्बर को बढ़ाते जाना बारीक कताई का उदाहरण अवश्य है और इससे लाभ है। परन्तु मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि स्थिति को फिर से बता देने की ज़रूरत है। बारीक सूत कातने में बहुतसी और बातें भी शामिल समझी जानी चाहिये। मामूली रुई जो मिलती है उससे अच्छी रूई चाहिये। अधिक परिश्रम से उसकी तैयारी चाहिये और उसकी कताई भी लम्बाई में कम होगी, कठिन होगी और बुनाई में ज्यादा खर्च पड़ेगा। बारीक कताई में यह सब बातें शामिल हैं।"

ऊपर लिखी बातों में कुछ थोड़ी सच्चाई ज़रूर है परन्तु इसकी अच्छी छानबीन होनी चाहिये। क्या जैसा कि दासगुप्त भी कहते हैं, देश के सामने कम समय में ज्यादा से ज्यादा लम्बाई में कातने का प्रश्न है या जो माल तय्यार होता है उसकी अच्छाई के विचार से किसी हद तक इस कथन को सुधारना भी होगा? जाँच के लिये यह एक ज़रूरी बात है। और इस तरह की सुधार वाली बात अगर ठीक है तो कताई के राष्ट्रीय औसत को इस समय की अवस्था से बहुत ऊँचे उठाना होगा और तब जो नयी परिस्थिति स्थापित होगी उसमें मझोली और बारीक कताई को यदि मर्यादित स्थान भी मिला तब भी अन्तिम स्थान मिलेगा।

२४. बारीक और मझोली कताई का मामला

हमने जब महीन और मझोली कताई की चर्चा की तो ऐसी

कताई में जो दो एक भीतरी और मुख्य बातें हैं जिनके बिना ऐसी कताई हो नहीं सकती उन पर भी विचार करना ज़रूरी है। ऐसी कताई के लिये बहुत उत्तम प्रकार की रुई लेनी पड़ेगी और देश के किसी किसी भाग में ऐसी अच्छी रुई मिल ही न सकेगी। यह पहिली रुकावट हुई। परन्तु यह कोई अमिट रुकावट नहीं है क्योंकि इस बात की उचित आशा की जा सकती है कि जब कताई की चाल फिर से चल पड़ी तो अच्छी रुई के उपजाने की चाल भी जरूर चल पड़ेगी। इसके सिवाय और भी विशेष शर्तें हैं जो सभी महीन कताई के साथ चलती हैं। पहले तो कातने वाले का वेग ही महीन कताई के लिये घट जायगा अर्थात् चरखा पीछे पहले जितना मोटा सूत कतता था, बारीक सूत उससे बहुत कम हो जायगा। सूत के तैयार होने में जो यह फर्क होता है वह इस बात से और भी ज्यादा बढ़ जाता है कि जिस चाल से सूत का नम्बर ऊँचे उठता है उसी चाल से उससे तैयार खद्दर की लम्बाई नहीं बढ़ती। सूत की अच्छाई खद्दर की अच्छाई ज़रूर है पर उसके साथ लम्बाई की बहुत कमी भी अनिवार्य है। पृष्ठ १९८ पर एक सारिणी दी गई है जिसमें चरखे पर महीन मझोली और मोटी कताई के फल दिखाए हैं और इस बात को मान लिया गया है कि चरखा तीसों दिन आठ घन्टे रोज के हिसाब से चलता रहा है।

इस सारिणी में जो कताई के वेग दिये हुए हैं वह पेशेवर कातनेवालों के हैं। मद्रास गवर्नमेन्ट के कताई-बुनाई के दक्ष अफसर श्री अमलसाद ने भी हाथ की कताई पर एक पुस्तिका लिखी है। उसमें जो अंक दिये हैं उससे हमारे अंक थोड़े बहुत मिलते हैं।

सूत का नंबर	घंटा पीछे कितने गज़	२४० घंटों की कुल कताई	एक वर्ग इञ्च ताने-बाने में सूत की संख्या	कितने वर्ग गज़ कपड़ा बना	ओटिज़न बाद रुई का दाम (सं० १९८२)		कातनेकी मजूरी ८४० गज़ की आँटी पीछे (पाइयों में)	कताई का कुल खर्च	वर्ग गज़ पीछे बुनाई की दर	दफ्तर आदि के खर्च को जोड़ कर गज़ पीछे लागत
१	२	३	४	५	६		७	८	९	१०
					अधसेरे	दाम रुपयों में	पाई			
८	५००	१,२०,०००	५६	५८	१८$\frac{३}{४}$	६।)	४॥	३।=)	-)॥	।-)।
१०	५००	१,२०,०००	६४	५०	१५$\frac{२}{३}$	८॥)	५	३।=)	-)॥	।-)।
१५	४५०	१,०८,०००	७७	३७	९	५॥=)	५॥	३॥=)	=)	।-)।
२०	४२०	१,००,८००	९२	२८$\frac{१}{२}$	६	४)	६	३॥)	=)॥	।=)
२५	४००	९६,०००	१००	२५	४$\frac{४}{७}$	३॥)	६॥	३॥।-)	=)॥।	।=)॥।
३०	३७५	९०,०००	११०	२२	३$\frac{६}{७}$	२॥।=)	७	३॥।≡)	≡)	।≡)
४०	३५०	८४,०००	१२८	१७$\frac{१}{२}$	२$\frac{१}{२}$	१॥।=)	८	४=)	≡)॥	।≡)॥।
५०	३२०	७६,८००	१४२	१४$\frac{१}{२}$	१$\frac{२७}{३८}$	१॥)	९	४।-)	।)	॥=)

श्री अमलसाद* ने ३० और ४० नम्बरों के लिये ऊँचे अंक लिखे हैं परन्तु इस तरह के फर्जी हिसाबों में भूल से बचे रहने के लिये मध्य अंक ही यहाँ रखे गये हैं। कताई की मजूरी देने में लम्बाई का ही हिसाब रखा गया है। सभी नम्बरों के लिये कुछ कमबेश वही मजूरी सारिणी में रखी गयी है जो अच्छी तरह से संगठित केन्द्रों में चल रही है। तामिलनाडू में मझोली कताई के सूत रुपए में १६ से १८ अट्टियाँ तक बिकते हैं और हमारे हिसाब में भी वैसी ही मजूरी पड़ती है। ४० और ४० से ऊपर के नम्बर तो अभी अत्यन्त कम मिलते हैं। इसलिये उन का मोल साधारण से अत्यन्त ऊँचा होगा। पर यह बात थोड़े

---

* श्रीअमलसाद ने अपनी पुस्तिका में यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि चरखे का प्रस्ताव अर्थशास्त्र के काँटे पर ठीक नहीं उतरता। चरखे के विरुद्ध उनकी प्रधान आपत्तियाँ यही मालूम होती हैं कि हाथ का कता सूत मिल के सूत की तरह अच्छा नहीं होता है और अधिकांश बराबर नहीं होता। इसीलिये बाज़ार में मिल के सूत की तरह इसी ढंग पर बेचा नहीं जा सकता। यह कहना व्यर्थ है कि हाथ की कताई के विरुद्ध तो यह कोई आपत्ति न हुई। यह तो वस्तुतः राष्ट्र को एक तरह की चेतावनी हुई कि अच्छा कातें। अस्सी नब्बे बरस पहले हाथ के कते सूत के हाथों भारत के सारे बाज़ार बिके हुए थे और उसके बने कपड़े युगों तक अपनी बुनावट की सुन्दरता, टिकाऊपन और हर तरह की अच्छाई के लिये मशहूर रहे हैं। आगे भी खद्दर के ऐसे ही सुन्दर हो जाने की आशा है। यह दलील तो बिलकुल ओछी है कि श्रीअमलसाद के देखने में जो सूत आये वह दुर्बल, फुसफुस, और बुनने के योग्य न थे, इसलिये भारतवर्ष की सारी कताई बेकार है और उससे कोई लाभ नहीं हो सकता।

ही दिनों के लिये है। पोंदूर और गंजाम के बारीक सूत का मामला और है। इनमें ऐंठन विशेष रूप से भारी है और वहीं की उपजी रुई से कता है और वह रुई भी कातनेवाले ने लगभग उसी मेहनत से कताई के लिये तैयार की है जैसे प्राचीन काल में ढाके की कातनेवालियाँ तैयार करती थीं। पोंदूर के सूत की अच्छाई पर शायद उसे कहीं ज्यादा दाम मिलता जितना कि यहाँ रखा गया है। लेकिन इस बात को हम काट नहीं सकते कि उस तरह के सूत की तैयारी पोंदूर में अभी इतनी कम है और उसकी इतनी भारी माँग है कि उसका दाम बहुत चढ़ा हुआ है

२५. नफे का घटता जाना और लागत का बढ़ता जाना

हम जब सारिणी को देखते हैं तो पहले एक यही बात बहुत साफ दिखाई पड़ती है कि नम्बर जितने ऊँचे उठता है तैयार माल की मात्रा उतनी ही घटती जाती है। यह साफ मालूम होता है कि ज्यों ज्यों हम दस नम्बर से साठ नम्बर को उठते हैं त्यों त्यों उतने ही घन्टों तक के काम में तैयार माल की मात्रा धीरे धीरे घटती जाती है। यहाँ तक कि जोड़ की संख्या, आरम्भ वाली जोड़की संख्या से मुकाबला करने पर चौथाई के लगभग रह जाती है। सुनने में यह दलील बड़ी अच्छी मालूम होगी कि मोटा सूत जल्दी कतता है इसलिये इसमें जो कुछ काम होगा अधिक मुनाफे का होगा। श्रीयुत् लक्ष्मीदास पुरुषोत्तम ने सितम्बर सन् १९२१ के यंग इंडिया में एक लेख में महीन और मझोले नम्बरों के विरुद्ध यही दलील पेश की थी। लेकिन उन्हें दो एक बातों का ख्याल न रहा जो व्यवहार में माल की घटतीवाली दलील को बहुत कुछ घटा देती है।

(१) पहिली बात यह है कि बारीक कपड़े की तैयारी में जो लागत लगती है वह बहुत ज्यादा ऊँची नहीं होती। यद्यपि कताई और बुनाई की मजूरी ज्यादा दी जाती है। अर्थात् तैयारी माल में जितनी घटती होती है लागत में उसी के अनुसार बढ़ती नहीं होती और वह भी ऐसी दशा में जब कि कताई और बुनाई बराबर बढ़ती जाती है। यह बात समझ में आ सकती है कि कोई साहसी खद्दर का व्यापारी बीस नम्बर का साढ़े अट्ठाईस गज तैयार कराना ज्यादा पसन्द करे और कताई काफी ऊँची दे परन्तु वही दस नम्बर के सूत के बुने ५० गज कपड़े तैयार न करावे यद्यपि कम मजूरी पर इसमें ज्यादा जल्दी काम होगा। इसके लिये एक कारण यह हो सकता है कि वह मोटे खद्दर की अपेक्षा इस महीन खद्दर को सहज में बेच सकेगा। उसको एक और भी प्रोत्साहन होगा कि वह मझोला सूत कातनेवाले चरखों को बढ़ावे जिसमें मझोले की ज्यादा कताई हो। इस तरह कमती माल का उतरना जो मझोली कताई के विरुद्ध एक दोष समझा जाता था वह व्यवहार में उतना बड़ा दोष न रहेगा। क्योंकि मझोली कताई की शर्तें ऐसी हैं कि उसमें अधिक कातनेवालों को काम मिल जायगा। इसके सिवाय यह भी बात है कि कुछ क्षेत्रों में, जैसे दक्षिण भारत के कुछ ज़िलों में, केवल महीन कताई हो सकती है। जिन कातनेवालों को पीढ़ियों से बारीक और मझोली कताई की शिक्षा मिली है वह अपनी बान छोड़ नहीं सकते और ऐसे ज़िलों के विकास की ओर ध्यान न देना जिनमें बारीक और मझोली कताई के अच्छे फल निकल सकते हैं अत्यन्त बुरा होगा। चरखे की बड़ाई छोटाई, धुनाई

और सफ़ाई की रीतियाँ और मनमानी फ़ुरसत जो इस तरह के कातनेवालों की विशेषताएँ हैं, वह सब मोटे सूत की तैयारी के विरुद्ध पड़ेंगी। और राष्ट्र के हित की दृष्टि से यह केवल उचित ही नहीं बल्कि आवश्यक होगा कि जहाँ मझोली कताई बड़े पैमाने पर हो सकती है उन केन्द्रों पर पूरा ध्यान दिया जाय।

२६. रुई के भाव का चढ़ जाना

(२) सूत की तैयारी में रुई के भाव के चढ़ जाने का बहुत भारी प्रभाव पड़ता है। परन्तु बारीक खद्दर पर उसका प्रभाव उतना नहीं पड़ता जितना मोटे पर पड़ता है। बारीक कपड़े का भाव उतना ऊँचा नहीं उठता जितना मोटे कपड़े का उठता है। जैसे, अगर आध सेर पीछे रुई के भाव में चार आना बढ़ा तो दस नम्बर के कपड़े के भाव में एक आना चारपाई गज़ बढ़ जायगा, बीस नम्बर के कपड़े में केवल ९ पाई गज़ बढ़ेगा और चालीस नम्बर के कपड़े में ७ पाई गज़ बढ़ेगा। गरीब कातने वाला जो अपनी कपास जमा रखता है और खुले बाजार अपना सूत बेचता है, चढ़े भाव के दिनों में अपना नम्बर ऊँचा कर देगा। इस तरह रुई में किफायत करेगा और अपनी रोज़ की मजूरी भी न खोवेगा, इसी तरह कतवानेवाला जो रुई देता है और सूत खरीदता है यही बात अधिक पसन्द करेगा कि उसको मोटे सूत की अपेक्षा मझोला सूत मिले, जिसमें उसको अधिक लाभ है।

२७. वेग की जाँच और मजूरी के प्रमाण

(३) मझोले सूतों की तैयारी में वेग बढ़ाने से बड़ी सहायता मिलेगी। कातने के खर्च को भी यह दबाये रहेगा।

कातनेवाले की मजूरी तो अट्टियाँ गिन कर दी जाती है। इसलिये उसकी पूरी आमदनी को घटाये बिना ही वेग बढ़ने से मजूरी कम की जा सकेगी। यह आवश्यक है कि मझोले सूतों का वेग बढ़ाया जाय इस सम्बन्ध में कताई की मजूरी ठहराने की रीति की जाँच करना अच्छा होगा। लम्बाई की नाप से मजूरी देने में कई सुभीते हैं। इसमें एक साथ ही गुण और मात्रा दोनों की परख हो जाती है। कातनेवाले को ज्यादा मजूरी पैदा करने का हौसला होता है। साथ ही मझोले नम्बर का सूत निकालने में उसे कताई के घन्टे घटा देने का भी मौक़ा मिलता है। कातनेवालों के हाथों धोखा उठाना लगभग असम्भव हो जाता है। जब सूत तौल से ख़रीदा जाता है तो किसी तरह का विवेक नहीं किया जा सकता और कातनेवाले का मन बहुत करके इस बेइमानी की ओर झुक सकता है कि वह अच्छा बुरा सूत मिला कर बेचे और उस पर औसत मजूरी वसूल करले। इससे भी ज्यादा बुराई कुकड़ी के रूप में बिकने में है जिसमें कि मोटे सूत की भीतरी तहें ऊपर के बारीक सूत की तहों से छिपायी जा सकती हैं। इसी तरह की धोखेबाज़ी कुछ काल तक ऐसी चली कि मद्रास हाते के कई ज़िलों के खादी के भारी केन्द्रों को भारी नुकसान हुआ और वह ऐसी बुरी दशा में पड़ गये कि लगभग बन्द से हो गये। कुछ भी हो लम्बाई नाप करके दाम देने के नियम में एक शर्त है। महीन और मझोले नम्बरों के लिये नियम बहुत उपयोगी हैं परन्तु मोटे सूत के लिये बिल्कुल अनावश्यक है। देश में यह रवाज भी है कि बारीक सूत अट्टियों के हिसाब से बिकता है और मोटा सूत तौल कर बिकता है। दस

बारह नम्बर के लिये अटेरने पर बहुत ज़ोर देना व्यर्थ है। इसके सिवा जहाँ रवाज है कि कातनेवाला तौल से बेचता है वहाँ इस रीति को बिगाड़ना बुद्धिमानी नहीं है।

२८. महीन कताई और अपनी इच्छा से कोशिश

(४) मझोली और महीन कताई में सबसे बड़ी मार्के की किफ़ायत एक एक आदमी के अपने मन से कातने में है। एक आदमी को साल में २४० घण्टे कातने को मिलें तो वह अपने लिए नाम मात्र के ख़र्च से बारीक और अच्छी बुनावट का कपड़ा बनवा सकेगा। इसी स्थल पर हाथ के कते सूत का कपड़ा मिल के बने कपड़े पर बाज़ी मार ले जाता है। क्योंकि रोज़ पौन घण्टे की मेहनत में एक ही आदमा अपनी कपड़े की जरूरत पूरी कर सकता है, बल्कि अधिक भी कपड़े तैयार कर सकता है और वह भी मिलों की अपेक्षा अत्यन्त थोड़ी लागत पर। यहाँ सूत के नम्बरवाली सारिणी को जहाँ तक लागत का संबंध है दोह-राना ज़रूरी है।

सूत का नम्बर	कताई न देनी पड़े ऐसी दशा में गज़ पीछे कपड़े की लागत
८	।)५ पाई
१०	।)।
१५	।)।।
२०	।)।।।
२५	।)।।।
३०	।-)

४०	।-)
५०	।-)॥
६०	।-)॥।

इस तरह मालूम होगा कि जो आदमी कातेगा उसके लिए कपड़े की लागत हर नम्बर के लिए लगभग बराबर के हुई। विहार सरकार के एक अधिकारी मिस्टर टालेंट्स संवत् १९७८ की मर्दुमशुमारी की रिपोर्ट में यह विचित्र बात लिखते हैं कि अगर चरखे की कताई कुछ भी न लगे तो भी विदेशी या मिल के कपड़े से खद्दर ज्यादा महँगा पड़ेगा। ऐसी बात का अनर्गल होना तो स्पष्ट ही है। यह बात सहज ही समझ में आ सकती है कि भारत के पाँच पाँच प्राणी के हर परिवार में अगर चरखा दो ढाई घंटा रोज चले तो भारतवर्ष कपड़े के बारे में बिलकुल स्वाधीन हो सकता है। यह बिल्कुल स्वाभाविक है कि ऐसी दशा में एक आदमी या एक परिवार जो घर के खर्च के लिए कातेगा वह ऐसा नम्बर कातेगा जिससे सबसे अधिक सुभीते से काफी कपड़े मिल जायँ और उनका बहुत ज्यादा समय भी न लगे। जिन परिवारों को बड़ी फुरसत रहा करती है वह अपने २ शौक के लिए अत्यन्त महीन कातेंगे और उससे घर के लिए कपड़े भी बनवावेंगे। पर किसान और उन्हीं के वर्ग के लोग जिनके औसत के घंटे अमीरों की अपेक्षा कम हैं वह शायद मोटे नम्बर का कातें। संवत् १८६३ में डाक्टर बुकानन के कथनानुसार यहाँ की कताई की ऐसी ही दशा थी। उस समय मझोले और महीन सूत बाजार में कसे पड़े थे और इनके कातने वाले किसानों के वर्ग के लोग भी थे। इन सब बातों

पर विचार करके हम यह कह सकते हैं कि कताई का राष्ट्रीय औसत बीस नम्बर के ऊपर कहीं पास ही पास पड़ेगा। हमारा तैयार किया हुआ कुल खद्दर औसत में अगर इसी मध्य अंक के लगभग पड़े तो देश के लिए निश्चय ही बहुत लाभ की बात है। इसका यह मतलब नहीं है कि जितना सूत कते वह सब इसी नम्बर का हो बल्कि जरूरत यह है कि कुल माल का औसत बीस पचीस नम्बर के लगभग आवे।

२६. खुले बाजार में बिक्री

व्यवसाय के जगह जगह बँटने में ही जैसे और सब दस्तकारियों में सुभीता और किफायत है उसी तरह कताई में भी है। हम पहली बात पर, अर्थात् कातनेवाले के खुद कपास जमा करने पर विचार कर चुके हैं। अब हम दूसरी बात पर अर्थात् कातने और बुननेवालों के माल को बाजार में रखने पर विचार करते हैं। यह तभी होगा जब देश में पुरानी अठवारी पेठ या बाजार चल पड़ेंगे। दक्षिण भारत के कुछ हिस्सों में कातनेवालों में सूत बेचने की चाल तेज़ी से बढ़ रही है। इस आन्दोलन के आरम्भ में जैसी दशा थी उससे यह एक क़दम ज्यादा तरक्की है। आदर्श के अधिक समीप है। अभी ऐसा खुला बाजार जहाँ कातने और बुननेवाले सहज में मिल सकें और सौदा पटा सकें बहुत दूर हैं। और सम्भव है कि उस समय तक यह बात न हो सके जब तक कि अधिकांश क्षेत्रों में खद्दर देश का साधारण पहिरावा न हो जाय। इन्हीं अवस्थाओं के आने पर बिचवई व्यापारी की जरूरत न रह जायगी। यह निश्चय ही सच है कि इस समय बीच के व्यापारी

से लाभ होता है क्योंकि वह कातनेवाले, बुननेवाले, पहिननेवाले और रुई के व्यापारी को मिलाता है। लेकिन ज्योंही खुले बाजारों का ढंग चल पड़ेगा—देश उसी राह जा भी रहा है—तो वह बहुत जल्दी गायब हो जायगा। बुननेवाले और कातनेवालों को निरंतर पास लाते रहने से सूत की अच्छाई में जल्दी जल्दी सुधार होता रहेगा। जब सूत के मेले आमतौर पर होने लगेंगे तब बुनकार के लिए वह घड़ी आवेगी जब उसे खादी आन्दोलन में आज से ज्यादा रस आने लगेगा और वह ज्यादा काम करने लगेगा।

३०. सूत के दामों का मुकाबला

जहाँ सूत सीधे बेंच लिया जाता है या उन जगहों में जहाँ कातनेवाला आप ही धुनता और कातता है वहाँ सूत का भाव ज्यादा सुभीते का मालूम होता है। परन्तु वहाँ जहाँ खादी का अभी आरम्भ हुआ है और जहाँ सभी क्रियायें अलग अलग की जाती हैं, सूत महँगा पड़ता है।

जगह	सूत का नंबर	संवत् १९८२ में आध सेर का दाम	मजदूरी कैसे दी जाती है	विशेष
नगलापुरम् (करनूल में)	२०	१॥=)	ताने के रूप में	कातने वाला कपास जमा रखता है और ताने तनने तक स्वयं कुल काम करता है।

९ तिरुप्पुर १०—१२ तक (कोयम्बतूर में)	१)	तोल से	कातनेवाला धुन भी लेता है।
३ अमरियाली ६—१० तक (गुजरात में)	१।)	तौल से	विकेन्द्रीकरण का अभाव
४ कालोकेरी ८—१० तक (चित्तूर में)	१।)	तौल से	,,

अंतिम केन्द्रों में जो कि बिना किसी विशेष चुनाव के नये खादी तैयार करनेवाले केन्द्रों के प्रतिनिधि के रूप में रख लिए गये हैं सूत के दाम ऊँचे हैं, क्योंकि जो कताई दी जाती है उसमें धुनाई शामिल नहीं है और नम्बर एक और दो में धुनाई कातने-वालों की आमदनी में मिल गयी है। इसलिए हमारा उद्देश्य यह होना चाहिये कि उन तमाम कामों के दाम जो कातनेवाला कर सकता है, बिलकुल उड़ा दिये जायँ।

३१. स्वेच्छा-कताई

हमारा आन्दोलन एक प्रकार का विदेशी कपड़े के आने में रुकावट डालने वाला स्वेच्छा-कर की तरह पर है; इसलिए राष्ट्र को यह देखना होगा कि अपनी प्राथमिक अवस्थाओं में इस स्वेच्छा-बाधक कर का ठीक ठीक विकास हो रहा है या नहीं। इस धंधे को अच्छी तरह सफल अवस्था तक उठाने में राष्ट्र को केवल खद्दर के पक्ष में अनुराग पैदा करना और पुष्ट करना ही नहीं है बल्कि उसे पारितोषिकों और पुरस्कारों आदि से सहायता पहुँचाना भी आवश्यक है। वह सहायता या पारितोषिक क्या है जो इस

आन्दोलन को सफलता से बढ़ा सकेगा? खद्दर का खरीदने वाला इस समय जो माल ले रहा है उसमें ज्यादा दाम देता ही है और इस अर्थ में वह जो कुछ खरीदता है उस पर मानों एक तरह का थोड़ा सा चन्दा दे डालता है। जब तक कि राज्य विरोधी है और इस धंधे की रक्षा और सहायता करने को तैयार नहीं है तब तक ऊपर के और मध्यवर्ग के लोगों को लोकहित के भाव से उसकी रक्षा करनी पड़ेगी, परन्तु सबसे अच्छा पारितोषिक तो स्वभावतः वही है जो सीधे उपज को बढ़ाता है और साथ ही साथ सस्ता कर देता है अर्थात् अधिक खद्दर से ही खद्दर सस्ता हो सकता है।

अपने आप स्वेच्छा से कातना ही सच्चे से सच्चा राष्ट्रीय पारितोषिक है। एक एक मनुष्य का अलग अलग प्रयत्न जब इकट्ठा होता है तो "मिला जुला प्रभाव बहुत बड़ा हो जाता है। फुही फुही ताल भर जाता है" इस कहावत का बहुत अच्छा उदाहरण स्वेच्छा कताई है। भारत की जनता के लिए स्वेच्छा कताई ही जनता का परितोषिक है। इससे आजकल जो जगह जगह पर कताई घिरीसी है, केन्द्र सा बन गया, उस दशा से छूट कर फैल जाती है, उसका विस्तार बढ़ जाता है। स्वेच्छा कताई से कुल मिला कर खादी के काम का आयतन ही नहीं बढ़ता बल्कि सारे देश में उसका प्रचार हो जाता है। स्वेच्छा कताई में कताई का काम स्थिर रूप से निरंतर चलता रहता है। स्वेच्छा-प्रयत्न से देश में भारी मात्राओं में बारीक सूत तैयार हो सकता है और जब वह दशा आवेगी तब बारीक सूत का इतना ऊँचा दाम न रह जायगा।*

---

* स्वेच्छा कताई का प्रश्न और दृष्टियों से भी विचारा जा सकता है।

३२—फुटकर बिक्रियों पर इनाम

स्वेच्छा कताई के सिवाय तैयार माल और बिक्री को बढ़ाने के लिए और तरह की भी सहायता हो सकती है। फुटकर माल की बिक्री के ऊपर इनाम दिये जा सकते हैं जैसा कि अखिल भारतीय खादी-मण्डल ने एक प्रस्ताव से देना निश्चय किया है। व्यापारियों और कारबारियों को एक प्रकार का निमंत्रण है कि अपनी पूँजी बढ़ावें और खद्दर की बिक्री में अधिक रस लें। इस तरह के इनामों का परिणाम अच्छी से अच्छी दशा में अप्रत्यक्ष ही हो सकता है। थोड़ी पूँजी लगानेवाला उसे बढ़ा कर इनाम से कुछ थोड़ी हद तक लाभ उठा सकता है परन्तु भारी कारबारी व्यापार के जोखिमों के लिए इनाम को केवल आंशिक बीमासा समझेगा। इनाम से इस बात में भी शायद सफलता मिल जाय कि खद्दर की बिक्री का भाव इतना ठहराया जा सके जो लागत के भाव से कुछ निश्चित संबंध रख सके। परन्तु यदि इनाम की दर बहुत हलकी हुई तो उसकी तरफ किसी का ध्यान ही नहीं जायगा। इनाम से अगर कुछ फल चाहा जाय तो उसका काफी होना जरूरी है। सूत के मेलों के साथ ही साथ खद्दर के

मिस्टर के० सन्तानम् ने २२ जनवरी सन् १९२५ के यंग इन्डिया में अपना एक लेख छपवाया था। उसमें बड़ी योग्यता से यह दर्शाया है कि अगर ठीक तरह पर संगठन किया जाय तो स्वेच्छा कताई के बल पर कांग्रेस का काम स्वाधीनता से चल सकता है। उससे इतनी आमदनी हो सकती है कि कांग्रेस को चन्दे की जरूरत न पड़े।

बाज़ार के विचार का भी विकास होना चाहिये। गाँव के मेलों में खद्दर को ले जाकर बेचने के लिये कमीशन या दस्तूरी के रूप में जो इनाम आदमियों को राजी कर सके उससे बड़ी सहायता मिल सकेगी। बड़े घने बसे हुए शहरों में खद्दर की बिक्री का प्रचार सहज हो सकता है। परन्तु उसे गाँवों में ले जाना जहाँ उसकी भारी से भारी बिक्री हो सकती है बहुत भारी और लगातार जतन का काम है और अगर एक बार अपने देहातों में देश-भक्ति का भाव पैदा कर दिया जाय तो वह आसानी से दूर नहीं किया जा सकेगा। जिन काम करनेवालों का मुख्य कर्तव्य यही है कि गाँव के खेतिहरों, किसानों और कारीगरों में इस भाव को जगावें उनको किसी न किसी तरह के इनाम से ठोस मदद पहुँचाने की जरूरत है। गाँव में चिल्ला कर बेचनेवाले को केवल कारबारी और व्यापारी ही नहीं बनना पड़ेगा बल्कि अगर उसे सफलता पानी है तो उत्साही प्रचारक भी बनना पड़ेगा।*

३३. कातनेवाले का इनाम

बिक्री पर जो इनाम देने की चर्चा की गयी है, इन्हीं के मुकाबले में और भी इनाम हो सकते हैं जिनका सीधा सम्बन्ध कातनेवालों और बुननेवालों से हो। जो इनाम कातनेवालों के

---

* बिक्री के बड़े मंदे दिनों में भी माल की तैयारी बराबर जारी रहेगी अगर साख के सुभीतों का विस्तार रहेगा और वादे करजे और खरीदारी की नियमित पद्धति ज़ारी रहेगी। लेकिन इन बातों पर इस निबंध में कोई विस्तार इस लिए नहीं किया गया कि यह बातें लेन देन के सुभीते के विकास और अधिक पूंजी के लगाने से सम्बन्ध रखती हैं।

पास जाय वह अवश्य ही ऐसा हो कि जिससे खद्दर की अधिक तैयारी और अधिक खपत निश्चय हो जाय। वह कातनेवाले को इस प्रोत्साहन के रूप में ही हो कि अपने सूत का कुछ अंश बेचने के बदले उससे वह अपना कपड़ा बनवावे। इसका एक उदाहरण लीजिये। जो कातनेवाला अपनी कपास जमा करके कातने का कुल काम स्वयं करता है उसके लिए अधिक से अधिक सिर पीछे बारह वर्ग गज़ तक कपड़ा बिना बिनाई लिये या आधी बिनाई पर तैयार करके इनाम की तौर पर दे दिया जाया करे। इस तरह के इनाम में काफ़ी लालच हो सकती है और परीक्षा के लिए ऐसी जगहों में जहाँ कातनेवाला इसी लिए कपास जमा करता है कि साल भर उसके काम में बाधा न पड़े और वह कपास बेच भी सके, वहाँ इस इनाम को चलाया जाय तो जल्दी सफलता हो सकती है। अगर यह इनाम आधी बुनाई के रूप में हो तो हर कातनेवाले के लिए दस बारह आना पड़ जायगा और अगर किसी प्रदेश में जहाँ यह इनाम चलाया जाय बीस तीस हजार कातनेवाले इसका लाभ उठाना चाहें तो देश को सब से कम प्रबन्ध-खर्च दे करके लाख डेढ़ लाख का खद्दर तैयार करने और बेचने में सहायता देने का लाभ मिलेगा और इसमें लगभग पन्द्रह हजार से साढ़े बाईस हजार तक ही रुपया लगेगा। अर्थात् जितना कुल रुपया लग सकता उसका, केवल साढ़े बारह से लेकर १५) सैकड़ा ही अंश बैठेगा। कातनेवालों के मन में यह बात बैठा देने की जरूरत है कि जो काम वह अपने लिए औरों से कराना चाहता है उसे आप भी अपने लिए करना होगा। हमारे आन्दोलन में जितने कातनेवाले हैं उनमें से अधिकांश को यह बात

छू भी नहीं गयी है। वह अब तक विदेशी या मिल के कपड़े पहनते हैं। कातनेवाले अपने घर के खर्च के लिए कात कर कपड़े का बन्दोबस्त कर लेना अपना कर्तव्य समझते थे। बड़े खेद की बात है कि उस पुरानी चाल को हम लोग भूल गये हैं, कातनेवालों में वही चाल फिर से चलानी होगी। यह केवल हमारे लिए उचित ही नहीं है, बल्कि हमारा प्रधान कर्तव्य है कि वर्तमान काल में हमारे आन्दोलन में जो सब से कमजोर जगह है, जिस पर कि चढ़ाई करके वैरी हमें नीचा दिखा सकता है उस जगह को हम दृढ़ बनावें और भीतर ही से उसके सुधार का उपाय करें। जब घर के जरूरी काम और नित्य के कर्तव्य की तरह पर चरखा कातने से खद्दर पहनने की ओर कातनेवाले परिवार की रुचि जग जायगी चाहे खद्दर कितना ही खराब और मोटा हो। इसलिए अगर गाँवों में खादी की जड़ जमाना मंजूर है तो इस आन्दोलन को बढ़ाने के लिए हम जितने सुभीते दें वह ऐसे होने चाहिए कि उनके पहले अंग कातनेवालों और बुननेवालों पर उसका सीधा असर पड़ सके।

३४—बुननेवाले का इनाम

जो दशा कातनेवाली की है वही बुननेवाले की भी है। करघे पर का बुननेवाला देश की एक भारी सम्पत्ति युगों से रहा है और आज भी है। खेती के बाद आज भी इस देश में हाथ के करघे की बुनाई सब से अधिक महत्व का व्यवसाय है। क्योंकि इससे लगभग साठ लाख प्राणियों को काम मिलता है। देश के करघों से हमें जितने कपड़ों की जरूरत होती है उसका चौथाई हिस्सा आज

भी हमें मिलता है और जितने कपड़े हमको देशी मिलों से मिलते हैं उनसे हमें अगर चार हिस्सा कपड़ा मिलता है तो हाथ के करघों से तीन हिस्सा मिलता है । संवत् १९८० के ही अङ्क लीजिये। देश में कुल चार अरब साढ़े बीस करोड़ गज कपड़ा खर्च हुआ। उसमें से १ अरब १० करोड़ ३० लाख गज कपड़ा हाथ के करघों का बना हुआ कूता गया था । हमारे पढ़े लिखे लोग इस घर के देशी कारबार के महत्व को उतना नहीं समझते जितना समझना चाहिये । भारतवर्ष की भलाई इसीमें है कि हाथ के करघे को अधिक ऊँचा स्थान दिया जाय और उसे चरखे के साथ ऐसा जोड़ दिया जाय कि सम्बन्ध सुफल हो । करघे और चरखे को साथ ही रहना पड़ेगा क्योंकि एक का जीवन दूसरे पर निर्भर है। देश के कुछ भागों में हाथ के करघे पर बुननेवाला इस बात को जल्दी समझ गया है परन्तु आम तौर पर यह बात माननी पड़ेगी कि अभी तक वह हाथ के कते सूत से भागता है, इसलिये नहीं कि उसको घिन है । केवल इसीलिए कि वह अभी अटकल नहीं कर सका है कि नया आन्दोलन बन्द नहीं होगा और अगर उसके मन में हाथ के कते सूत से कुछ अनुराग भी है तो वही जो तमाशबीन को होता है । उसका ध्यान अभी इस जरूरी बात पर दिलाना है कि गाँव के कारीगर की इज्जतवाली हैसियत उसे तभी मिल सकती है जब कि हाथ की कताई के सहारे गाँव के बीते समय के सुख को फिर से लाने में मदद करेगा । वह अब तक जो दोहरी गुलामी में पड़ा हुआ है—एक तो देशी या विदेशी मिलवाले की और दूसरी शहर या देहात के साहूकार की, उस दोहरी गुलामी से अगर कोई चीज उसे छुड़ा सकती है तो वह हाथ की कताई का प्रचार है।

वह अभी इस क़ायदे को समझ नहीं रहा है। और भी बातें हैं जिनसे उसकी आमदनी घट जाती है जिन्हें वह नहीं समझा रहा है। उसकी असली मजूरी बराबर घटती ही गयी है। इसका असर इतना बुरा हुआ है कि देश में करघे भी घटते गये हैं। बुनकार के पास अपनी कोई पूँजी नहीं है। उसके लिए उसे किसी पूँजीवाले या साहुकार का भरोसा करना पड़ता है। उसको नित्य विदेशी और देशी मिलों की निरन्तर होड़ का सामना करते रहना पड़ता है। और यह बराबरी का मुकाबला भी नहीं है। वह पहले स्वतन्त्र कारबारी था और अपने माल का दाम अपनी इच्छा से पटाता था। पर अब वह बात नहीं है। कुछ लोग यह सलाह देते हैं कि सहकार समितियाँ खोलकर बुनकारों को माली मदद पहुँचानी चाहिये। यह किसी हद तक अच्छा है पर यह उपाय कठिनाई की जड़ तक नहीं पहुँचता। बुनकारों को जिस बात की ज़रूरत है वह है काम और उसे ऐसे अवसर चाहिये कि वह अपने परिवारवालों की मेहनत को भी काम में लगा सके और उसे लगातार काम भी मिलता रहना चाहिये। वह अभी बिक्री के मौक़े ही पर माल तैयार करते हैं और इस मौक़े की कठिनाइयों और जोखिमों को झेलते हैं। यह सब उलझनें एक ही रीति से सुलझ सकती हैं कि बुनकार और बुनकार के कुटुम्बी भी अपने बचे समय में चरखा कातें। वैसे तो जब गाँव, घर घर में चरखे की गूंज सुनाई देने लगेगी तो बुनकार को बेकारी कभी न सतायेगी। आगे तो उसे सौदा बेचने में भी कोई कठिनाई न होगी। क्योंकि खरीदार तो उसके यहाँ आप ही आवेगा। मद्रास के गवर्नमेन्ट के मिस्टर अमलसाद की तरह जो लोग यह सोचते हैं कि ताना

तनने, माड़ी देने, पाई करने आदि कामों को सहज करने के लिये छोटी मोटी कलों का प्रचार करना अच्छा होगा, वह लोग बुनकार की दशा नहीं सुधारना चाहते बल्कि उलटे उसके सहायक परिवारवालों को थोड़ा बहुत बेकार कर देना चाहते हैं। बुनकार की असल मजूरी तो आज बहुत कम है ही। भारत में पुराने ज़माने में रँगाई का सारा काम बुनकार करता था। यह उसके हाथ से निकल गयी है। अगर परेतना, ताना तनना, पाई करना उससे छीन लिया जायगा तो उसकी वह हानि होगी जो कभी पूरी न हो सकेगी।* उसे और काम देने के लिये हम उससे भी चरखा चलवाना चाहते हैं। इससे उसे अवश्य ही अधिक काम मिल जायगा और बन्धनों से छुटकारा होगा। उसकी मजदूरी बढ़ जायगी। और आज जो वह मिलवाले और साहूकार दोनों चक्की के पाटों के बीच में पिस रहा है, सूत की कताई से वह बाहर खिंच आवेगा। उसके लिये तो केवल दृढ़ संकल्प चाहिये कि वह समझदारी के साथ छोटी रक़में जमा करता जाय और अपने चरखे के आसपास एक भारी सहकार-समिति रच डाले और इस तरह वह चाहे तो हाथ की कताई को वह खास अपना रोजगार बना ले, जैसे तिरुप्पुर प्रदेश में यह बात अभी देखी जा रही है कि खद्दर आन्दोलन में उसकी अपनी लगायी हुई पूंजी करघा पीछे औसत २५) तक आती है। इस तरह की थोड़ी थोड़ी सी बचत और जमा के ढंग को फैलाने से बुनकारों और कातनेवालों दोनों को भारी लाभ है। इसके प्रभाव से गाँवों में खादी की तैयारी पक्की और पोढी हो जायगी। फिर तो गाँवों में और भी बुनकार बस जायँगे। और जिस तरह छोड़

छोड़कर भाग रहे हैं वैसी बात देखने में न आयेगी, यहाँ भी हाथ कते सूत से बुनने के लिये उनका हौसला बढ़ाया जाय तो अच्छा हो। जहाँ वह चरखे का सूत काम में न लाना चाहते हों वहाँ उनके पाने योग्य इनाम रखा जाय। कुछ केन्द्रों में करघा पीछे गजों की कुछ निश्चित संख्या तैयार करने पर इकट्ठा कुछ इनाम रखा जाय और परीक्षा की जाय तो अच्छा हो। लेकिन इसकी जरूरत न पड़े, अगर कताई के जोरों से फैलने पर और प्रचार के बल से हर जगह के स्थानीय सुभीतों को हाथ के सूत की बिनाई में लगाया जाय।❀

३५. नकली खद्दर

हमारे देश के कुछ भागों में यह कठिन सवाल आ पड़ा है कि हम नकली खद्दर से किस तरह बचें। इस ठगी को मिलों से या मिल के मोटे सूत के बुननेवालों से मदद मिलती है। इस तरह जो कपड़ा बनता है, उसे अच्छी तरह विचार-पूर्वक देखा जाय तो शायद पोल खुल जाय। लेकिन इससे इस ठगी के बराबर चलते रहने में कोई रुकावट नहीं होती। कांग्रेस के दफ्तरवाले जिन मालों पर अपना प्रमाण या छाप दे देते हैं उसमें भी इस ठगी से बचने की कोई सूरत नहीं है। बचने का सब से अच्छा

❀ कातने और बुननेवालों के सिवाय इस काम को फिर से जिलाने में और लोग भी सहायता कर सकते हैं। जो लोग गाँवों में कपास उपजाते हैं वह कपास के रूप में इनाम दें या दान दें और जो लोग शहरों में रहते हैं और रुपयेवाले हैं वह इस धन्धे के लिये पूंजी देकर मदद कर सकते हैं।

उपाय जिससे कि खद्दर बदनामी से दूर रहेगा यही है कि जहाँ खद्दर तैयार किया जाता है वहीं जाकर माल की जाँच कर ली जाय। बुनकार जिस जगह से सूत लेता है उसी का ठीक और शुद्ध होना बहुत ज़रूरी है, नहीं तो यह बुराई बराबर चलती रहेगी। जब यह मालूम हो जाय कि अमुक स्थान में बेचनेवाले या बुनकार इस तरह ठगते हैं तो नीचे लिखी चार बातों का निश्चय कर लेना बहुत उपयोगी होगा।

(१) उस प्रदेश में कुल कितने चरखे चलते हैं और कुल कितना सूत तैयार कर सकते हैं। इन बातों की एक मोटी अटकल लगा लेनी चाहिये।

(२) बाहर से वहाँ सूत आता है या नहीं और अगर आता है तो कहाँ कहाँ से आता है यह बातें मालूम कर लेनी चाहियें।

(३) बुनकारों की रीति रस्म क्या हैं और उनके संगठनों की कैसी दशा है यह भी जान लेना चाहिये।

(४) उस प्रदेश में व्यापारी लोग किस हद तक खद्दर बाहर भिजवाते हैं यह भी मालूम कर लेना चाहिये।

अन्त की बात यह है कि बुनकार को ही ठीक करना चाहिये। उनका ही ऐसा संगठन कर देना चाहिये कि नकली सूत के मिलाने में उन के संगठन की ओर से ही देख-भाल और रुकावट रहे। जिस कठिनाई पर विचार किया गया है वह हमारे नये आन्दोलन में थोड़े दिनों के लिये आ गयी है जो अवश्य ही उस की बाढ़ के सामने अपने आप ग़ायब हो जायगी।

३९. व्यापारी संग्रहालय और चरखा-पीठ

बाहरी और नकली सहायताओं से कोई आन्दोलन अधिक दिनों तक नहीं चल सकता। कोई व्यवसाय चला भी तो बहुत थोड़े काल तक निरंतर चलने के लिए उसे अपने भीतरी बल और भीतर से पोषण की जरूरत होगी। सभी दशाओं में पुरानी अवस्थाओं का फिर से दोहराना शायद सम्भव न पाया जाय। यद्यपि देशव्यापी कताई को फिर से जिलाने के लिए वह बहुत जरूरी हो सकती है। शायद उनके ऊपर सुधार की आवश्यकता हो। यह बात जल्दी समझ में आ सकती है कि चरखे के वेग में जितनी ही बढ़ंती की जायगी या धुनकी की अच्छाई जितनी बढ़ायी जायगी उतना ही हमारे आन्दोलन को लाभ पहुँचेगा। क्योंकि इन विधियों से अपने काम में बिना उलझन डाले हुए माल की अच्छाई में हम सुधार कर सकते हैं। विविध औजारों को समझने की कोशिश और उस पर खोज और उनकी क्रिया में सुधार हर प्रान्त में करना है। हम लोग अधिकांश इस बात पर ध्यान नहीं देते कि जो देखने में अत्यन्त छोटे सुधार हैं मिल-जुल कर उनका फल कितने बड़े महत्व का हो जाता है। मान लीजिये जो तकुआ हम चरखे में लगाते हैं उसकी अच्छाई में कुछ थोड़ा सा ऐसा सुधार कर दिया जाय कि देश भर में चरखा पीछे ५० गज बढ़ती सूत कतने लगे तो लगभग २ करोड़ गज सूत या साढ़े सत्रह मन सूत रोज हमारी वर्तमान तैयारी में बढ़ जायगा। यह हिसाब केवल यह मान कर लगाया गया कि देश में १ लाख ही चरखे चलते हैं। ऐसे ही चौंकानेवाले फल

धुनकी के सुधार से भी मिल सकते हैं। देश की हर धुनकी की समाई बढ़ा देने का अर्थ यही है कि कताई भी उसी परिमाण में बढ़ गयी। जिन जिन स्थानों में कातनेवाला अपने लिए नहीं धुनता उनमें इस बात के प्रचार की जरूरत है। क्योंकि अगर वह आप धुन ले तो धुनाई भी उसकी होगी और साथ ही सूत भी सुधरे हुए प्रकार का कतेगा। महीन और मझोले नम्बर कातने में अच्छी धुनाई का बहुत भारी महत्व है। इस बात पर जितना ज़ोर दिया जाय थोड़ा है कि जो लोग देहातों में काम के लिए भेजे जायँ उनके लिए धुनाई अच्छी तरह से सीखना बहुत उपयोगी ही नहीं बल्कि बहुत ज़रूरी है। सभी ज़िलों में कताई-बुनाई के शिक्षालय तुरंत खड़े नहीं किये जा सकते। परन्तु इस बात की कोशिश ज़रूर होनी चाहिये कि हर प्रान्त में इन कामों में कुशल लोगों का दल घूम घूम कर सिखावे और उन सब लोगों को भरसक घर बैठे ओटाई, धुनाई और कताई सीखने के सुभीते मिलें। इसी के साथ ही साथ हर प्रान्त को अपना एक संग्रहालय बनाना चाहिये। उस संग्रहालय में हर तरह की प्रान्त की पैदा की हुई कपास, रुई, सूत और कपड़े के हर तरह के नमूने रहने चाहियें कि उन्हें परखा जाय, उन पर प्रयोग किये जायँ। वह प्रान्त के व्यापारियों के लिये ठीक मार्ग दिखाने का काम भी करेंगे, प्रतिवर्ष वह आसानी से हमारे दोषों को पकड़ सकेंगे। हमारे सुधारों को देखेंगे और भरसक दोषों के इलाज बतावेंगे। ऐसे दक्ष दलों के दौरे जगह जगह और बारबार की प्रदर्शनियाँ, नमूने और काम करके दिखाना और नमूनों का संग्रह निश्चय ही यह सब बड़े काम की चीजें हैं।

३७. मिलों से मिलान

यहाँ तक जितनी बातें कही गयी हैं निकट भविष्य में कताई से जितनी आशा की जा सकती है, उतने से ही उसका सम्बन्ध है। परन्तु हाथ की कताई की इन्हीं आशाओं का मिलान मिल के व्यवसाय से करें तो और भी बहुत सी बातें मालूम हो सकती हैं जिन से कि भारतीय राष्ट्र सूत की कताई और भी ज्यादा पसन्द करेगा। यहाँ दो तरह के उद्योग हमारे सामने हैं दोनों एक दूसरे के बिलकुल विरोधी। मिल का उद्योग सब कामों को एक जगह बटोरता है और चरखे का उद्योग काम को देश में फैलाता है और जगह जगह बाँटता है। हाथ की कताई को फैलाने से वही नतीजा होता है जो पानी बरसने से देखने में आता है, चारों ओर फैल कर बँटना। मिलों को खड़ा करना और कपड़े के उद्योग को एक ही जगह बटोर रखना एक नदी के भीतर बाँध उठाना है कि बहता हुआ पानी रुक जाय जिसमें उसका एक भाग किसी अच्छे काम के लिए खास तरफ बहाया जा सके। इन दोनों तरह के व्यवसायों की उन्नति बिलकुल विरोधी दिशाओं में होती है और जो दिशाएँ पसंद की जाती हैं उन्हीं के अनुसार आर्थिक फल भी होता है।

३८. मिलों की उन्नति

इस बात को निश्चय करने के पहले कि दोनों में से किस प्रकार का उद्योग अधिक फलदायक और लाभकारी होगा भारत में मिलों के आरम्भ और बढ़न्ती का एक संक्षिप्त दिग्दर्शन आव-

श्यक है। जिसमें अपने राष्ट्रीय योगक्षेम पर हम उसके सच्चे प्रभावों का अन्दाज़ा कर सकें। यद्यपि कताई की पहली मिल भारतवर्ष में संवत् १८९५ में कलकत्ते में खड़ी की गयी, तथापि बम्बई में संवत् १९१० में जब पहला पुतलीघर पाँच हज़ार तकुओंवाला खड़ा किया गया तो भारतीय औद्योगिक जीवन में भाप के बल से कपड़ा बुनने का रूप पहले पहल खड़ा हुआ। एक तरह से घर घर के उस पुराने कपड़े के व्यवसाय के बदले सूत की मिलें चलायी गयीं जो विदेशी कपड़ों के आयात के बढ़ने से मारा गया था। अमेरिका के युद्ध के दिनों में इस नवजात उद्योग ने अपने विकट संकटकाल को झेल लिया। उस समय रुई का भाव अत्यन्त ऊँचा उठ गया था। ३८२ सेर के एक गद्दे का दाम छः सौ रुपये हो गये थे। परन्तु युद्ध के बाद जब दामों पर उसका प्रभाव नहीं रह गया, मिलों की संख्या बढ़ चली। यहाँ तक कि संवत् १९३९ में ६२ मिलें थीं, जिनमें १६ लाख ५४ हजार १०३ तकुए थे। और १५११६ करघे थे जिनमें कुल ५३६२४ प्राणी काम करते थे। तब भी लंकाशायर इस उद्योग से लड़ने को कमर कसे खड़ा था और उसके आन्दोलन का फल यह हुआ कि भारत में विदेशी कपड़ों पर जितना आयात कर लगता था, सब उठा दिया गया, तो भारतीय मिलें चलती रहीं। उस समय उनका माल, सूत और कपड़ा दोनों, विदेशों में भी जाने लगा था। पीछे के वर्षों में तो और जल्दी विकास हुआ और नीचे की सारिणी से यह पता लगेगा कि संवत् १९३७ से लेकर १९८१ तक मिलों ने कितनी उन्नति की।

संवत्	मिलों की संख्या	अधिकृत पूंजी	तकुओं की गिनती	करघों की गिनती	काम करने वालों की गिनती
१९४०	७४	८१६७७२५०	१८९५२८४	१६२५१	६१८२५
१९५०	१३८	११३३००८४०	३५३९६८१	२९३९२	१३०५७०
१९६०	२०६	१५४८७८०५०	५१६७६०८	४५२८१	१८६१४४
१९७०	२६४	२१५०२३०५०	६६२०५७६	९६६८८	२६०८४७
१९८०	३३३	करीब ४० करोड़	७९२७९३८	१४४७९४	३४३८७६

पिछले चालीस वर्षों में मिलों का व्यवसाय कितना बढ़ा, इस पर बहुत विस्तार की जरूरत नहीं है। वर्तमान शताब्दी के उत्तरार्द्ध के लगते लगते विशेष कर मिलों को बहुत से संकटों का सामना करना पड़ा है। लंकाशायर के जलन के कारण देश के भीतर ही रुई पर कर बैठाया गया। बम्बई में प्लेग भी फैला, कुछ दिनों तक इसी से मजूरी भी बहुत महँगी रही। संवत् १९५७ में ऐसा सूखा पड़ा कि कपास कम मिल सकी। और सर्राफे में भी भाँज या बदलौना का बहुत उतारचढ़ाव होता रहा। इन सभी बातों से इस बढ़ते हुए व्यवसाय के ऊपर बुरा प्रभाव पड़ा, तो भी मिलों ने लगातार उन्नति की। संवत् १९७० में सूत ८५,३४,६०० मन तैयार हुआ और कपड़ा डेढ़ अरब गज से ज्यादा बना। दस बरस पीछे सं० १९७९ में सूत ८८,२३,१०० मन के ऊपर कता और कपड़ा एक अरब साढ़े बहत्तर करोड़ गज तैयार हुआ। यह युद्ध जिन वर्षों में हुआ मिलों को ज्यादा माल तैयार करने का अच्छा मौका मिला। बात यह थी कि लंकाशायर से माल का आना कुछ दिनों के लिए घट गया था और अपने देश का बाज़ार देशी कपड़ों

की खपत के लिये खुल गया था। परन्तु साथ ही साथ सुभीते में एक कमी यह भी थी कि नयी मिलें कुछ गिनती लायक नहीं बन सकीं। जो हो लड़ाई के बाद के वर्षों में भारतवर्ष में मिलों के लिए अच्छा बाजार मिल गया और दस वर्ष पहले से मिलान करने से मालूम होगा कि कपड़े की तैयारी सौ में ४० भाग बढ़ गयी है।

संवत्	गज़	
१९६९–७१	१,१७,२०,००,०००	औसत तैयारी
१९७२–७४	१,५४,४०,००,०००	,,
१९७५–७७	१,५५,७०,००,०००	,,
१९७८–८०	१,६७,००,००,०००	,,

जिनका सूत भारतवर्ष में खपा कुल को १०० माना जाय तो ९२ भाग मिलों का था, और सब तरह के कपड़ों की तैयारी में विदेशी कपड़ों की आमद की अपेक्षा मात्रा में मिलों के कपड़े कुछ अधिक ही ठहरते हैं और मालियत में कुछ कम और देश में जितना कपड़ा खपा उसका लगभग चौथाई भाग देशी मिल का कपड़ा ठहरता है। इतने पर भी यह व्यवसाय विलायत में जितना अधिक बढ़ा हुआ है, उस दरजे तक नहीं पहुँचा है। संवत् १९७८ के अंत की ही बात लीजिये। विलायत में दस करोड़ से ज्यादा तकुए थे और ७ लाख ९० हज़ार करघे थे। अर्थात् हमारे देश की मिलों के तकुओं की अपेक्षा दसगुने और करघे की अपेक्षा सात गुने के लगभग थे। इंग्लिस्तान की ही नकल बम्बई में हुई है और यद्यपि बड़ाई में भारत का मिल-उद्योग वहाँ के सामने कुछ नहीं है, तो भी देश में यह मत ज़ोर पकड़ रहा है

कि मिल व्यवसाय के फैलाने से ज्यादा अच्छे नतीजे निकलेंगे और देश का बहुत ज्यादा भला होगा और हाथ की कताई और बुनाई को फिर से जिलाने में कम। इस मत की अच्छी तरह जाँच होने की ज़रूरत है कि कम से कम यह मालूम हो जाय कि राष्ट्र का किसमें ज्यादा फ़ायदा है, पुतलीघरों की कताई और मिल की बुनाई में या हाथ की कताई और हाथ की बुनाई में। जितने कारबार उठाये जाते हैं सब की नींव में चार पाँच आवश्यक बातें होती हैं—कितनी पूँजी की ज़रूरत होगी—फैलाने में कितना समय लगेगा–माल की तैयारी में कितना खर्चा पड़ेगा–राष्ट्र को सब जोड़ कर कितनी बचत होगी और अंत की बात यह कि दोनों की सामाजिक प्रतिक्रिया सारे राष्ट्र के ऊपर अलग अलग कैसी होगी? इन सब बातों पर अलग अलग भी विचार हो सकता है और हर एक का बाकी सब बातों से क्या सम्बन्ध है इस पर भी विचार हो सकता है।

३९. कितनी पूँजी चाहिये

पहले हम इस प्रश्न पर विचार करेंगे कि मिलों के संगठन और हाथ-कताई के संगठन में दोनों में कितनी कितनी पूँजी लगेगी और दोनों को फैलाने में कितना कितना समय लगेगा। इस समय मिलों की पूंजी लगभग ४० करोड़ रुपये हैं और इसके बल पर साढ़े सत्तासी हज़ार मन सूत तैयार हो रहा है। इससे हमको तकुआ पीछे लगभग सवा मन ❀ के साल भर में

❀ भारतीय मिलों में औसत तैयारी शायद ही कभी साल पीछे सवा मन से ज्यादा हुई हो। किसी किसी साल तो कम ही हुई है। मन से ज्यादा अंक जो कभी पहुँचा होगा तो डेढ़ मन से अधिक न होगा।

मिलों में मिलता है। यहाँ यह बात ज़रूर समझ लेनी चाहिये कि भारत के मिलों में औसत कताई किन नम्बरों में होती है। संवत् १९७९ के अंकों से हमें मालूम होता है कि उस साल की सूत की पूरी कताई में सैकड़ा पीछे तेरह भाग १ से लेकर १० नम्बर तक के थे और ५६ भाग ११ से २० तक के थे और २८ भाग २१ से ३० नम्बर तक के थे और ३ भाग ३० नम्बर से ऊँचे के थे। इन अंकों का औसत लगाया जाय तो १५ से १८ नम्बर तक पहुँचता है। चरखे में तकुआ पीछे औसत निकासी सूत की हमें खूब मालूम है। हम अगर मान लें कि सूत का नम्बर १५ होगा तो नित्य आधपाव से कुछ कम कतेगा और साल में १ मन सूत मिलेगा।* अब साढ़े सत्तासी हज़ार मन सूत जो मिलों से निकलता है देश में पूरे समय तक चरखा कते तो नब्बे लाख चरखों से कत जायगा। यद्यपि देश में लाखों पुराने चरखे अब तक फैले हुए हैं तो भी हम मान लेते हैं कि उन सब चरखों को फिर से नये सिर से बनाना और चलाना पड़ेगा। तो भी इस काम में जितनी पूँजी लगेगी वह मिलों में लगायी हुई का दसवाँ भाग भी नहीं होगी। चरखे तो मौजूद हैं। अधिकांश किसानों के घरों में ही हैं। देहाती चरखों को चलाने में ऐसी भारी रकमों की कोई ज़रूरत नहीं है जैसी कि मिलों में खर्च हो चुकी है। अब भी हरसाल कल पुर्जे और उनके सामान में कितनी रकमें लगी

---

* हम मान लेते हैं कि चरखा आठ घंटे रोज़ चलेगा। अगर सूत १० नम्बर का हुआ तो चरखा पीछे साल में डेढ़ मन से ज़्यादा उतरेगा। पर यहाँ हम ठीक तरहसे मिलान करने के लिए ऊँचे ही नम्बरों को लेते हैं।

जा रही हैं और हाथ की कताई का संगठन जब पक्का हो गया तब देहात के चरखों के लिए कपास सहज ही मिल जाया करेगी और मिलों में जो ढुलाई, बीमा कराई, ओटाई आदि में बहुत सा खर्च होता है सब बच जायगा। चरखों के लिए यह सब कुछ न करना पड़ेगा और जब अनुकूल दशा स्थापित हो जायगी तब देहातों के अठवारे बाजार में या कातनेवाले के घर ही कपास और रुई मिल जाया करेगी।

४०. वेग की भूल

युरोप की बड़ी लड़ाई के पहले मिल के तकुए और करघे का औसत खर्चा ६५) से लेकर ९००) तक बैठता था। पर आजकल तो १००) से लेकर ११००) तक बैठता है। इसे यों समझिये कि मिल के चरखे पर जहाँ लगभग उतना ही सूत कतता है जितना हाथ के चरखे से, वहाँ खर्च हाथ के चरखे के मुकाबले पच्चीस गुना बैठ जाता है। जो हो, यह न भूलना चाहिये कि मिल के तकुए से जितना काम किया जाता है उससे और भी ज्यादा काम लेना सम्भव है। बारीक नम्बर के सूत निकालने में मिल के तकुए में निश्चय ही लाभ है। मिल के तकुए पर २० नम्बर का सूत दिन भर में ३'६ छटाँक तक निकल सकता है, जो कि चरखे की समाई का लगभग दूना होता है। फिर भी मिल के तकुए के बैठाने में जो पच्चीस गुना खर्च पड़ जाता है, वही अत्यन्त भारी है क्योंकि मिल के एक तकुए के बदले उतने ही रुपये में हम बीस पच्चीस चरखे गाँव में दे सकते हैं और २० नम्बर का ही सूत कतवावें तो दस बारह गुना अधिक कतवा

भी सकते हैं। जो बात मिल के तकुए के लिये कही जाती है वही मिल के करघे की भी है। मिल में बिजली या भाप के बल से चलनेवाले करघे से साल में लगभग १२ हजार गज़ बुना जाता होगा। पर उसके बैठाने में जितना खर्च पड़ता है, अगर उससे मुकाबला किया जाय तो हाथ के करघे पर की तैयारी से (जो शायद वर्ष भर में १२०० गज़ से ज्यादा ही होगी) मिल का करघा लाभदायक न ठहरेगा। करघों की तैयारी के खच का हिसाब करके मिल के और हाथ के करघों से जितना कपड़ा तैयार हो सकता है, नीचे की सारिणी में हम खर्चे के मुकाबले सैकड़ा पीछे लाभदायकता का हिसाब दिखाते हैं।

	मिल के बल से	हाथ के बल से
साल में कितने घण्टे का काम	२९२०	२९२०
तकुआ पीछे कते हुये सूत की तौल	सवा मन से डेढ़ मन तक	एक मन पाँच सेर
सूत का नम्बर	१५	१५
तकुआ पीछे ख़र्च	१००)	३) से ४) तक
ख़र्च से मुकाबला करके काम का सैकड़ा	१००	२४००
करघा पीछे कुल बुनाई साल भर में	१२००० गज़	१२०० गज़
करघे का ख़र्चा	९००)	२०)
खर्चे का मुकाबला करके काम का सैकड़ा	१००	४५०

४१. मिल के व्यवसाय के आगे क्या होगा

हाथ की कताई और मिल की कताई के मुक़ाबले के काम में चाहे जो अन्तर हो, यह बहस की जा सकती है कि दोनों में सहज में फैल सकनेवाला व्यवसाय मिल का है। यद्यपि मिल का व्यवसाय वर्षों से बढ़ रहा है और आगे वह किस तरह से बढ़ेगा, इस पर अच्छी तरह से विचार करने की ज़रूरत है। हाल में सचमुच बाहर माल भेजनेवाला व्यापार एशिया में मन्दा पड़ गया है, परन्तु अगर मिल व्यवसायी भारत के बाज़ार पर सोलह आना इजारा कर लेना चाहें तो उन्हें बढ़ने के लिये अब भी भारी क्षेत्र पड़ा हुआ है, शर्त यह है कि अपनी चीज़ों को फैला कर बाहर से आनेवाले माल की जगह ले लें।

थोड़ी देर के लिये हम यह भी मान लें कि विलायती कपड़े और देशी मिल के बने हुए कपड़े जिन भावों पर बिक रहे हैं उनसे देशी मिलों की उन्नति में कोई बाधा नहीं पड़ती और यह बात भी हम मान लें कि अपनी उपज से इस समय जो विदेशों से डेढ़ अरब गज कपड़ा और सवासात लाख मन सूत आता है उतना ही यहाँ के बाजार में खपने के लिये भारतीय मिलों को तैयार करना है और मिल के तकुओं की योग्यता बढ़ा कर बरस में डेढ़ से दो मन तक सूत निकलने लगे तो भी इतनी बड़ी मांग को पूरा करने के लिये मिल के जितने तकुए आज चल रहे हैं उनके अलावा तीस चालीस लाख और तकुए भारत में चलवाने पड़ेंगे। इसी हिसाब से मिल के बल से चलनेवाले करघे भी दूने कर देने होंगे। तो क्या यह सुधार किसी समझने लायक

मुद्दत के अन्दर हो सकेगा। संवत् १९७० से १९७९ तक के दस वर्षों में जिस दर से उन्नति हुई है और जो कुछ हम को अनुभव है उससे तो हमें इस बात में भारी सन्देह है। संवत् १९७० से जो मिलों में उन्नति हुई है उसका मुकाबला पहले के बरसों से करके देखना चाहिये। नीचे की सारणी से इसका अन्दाजा हो जायगा।

संवत्	मिलों की गिन्ती	तकुओं की गिन्ती	करघों की गिन्ती
१९४५	१०९	२४६३६४२	२२१५६०
१९५१-१९५६	१७४	४५४६३३४२	३७२२८
१९६६	२४५	६१४२५५१	८०१७१
१९७०	२६४	६६२०५७६	९६६६८
१९७१	२५५	६५९८१०८	१०३३११
१९७२	२६७	६६७५६८८	१०८४१७
१९७३	२६७	६६७०१६२	११०८१२
१९७४	२६९	६६१४२६९	११४८०५
१९७५	२६४	६५९०९१८	११६०९४
१९७६	२६३	६७१४२६५	११७५५८
१९७७	२५५	६७५२४७४	११७९५३
१९७८	२७१	६८१४२२३	१२८३१४
१९७९	२८९	७२४५११९	१३७२३८

इस सरिणी के पढ़ने से पता चलता ह कि पहले दस सालों में उन्नति अच्छी हुई थी। संवत् १९७० से आगे तकुए और करघे की वैसी बढ़ती नहीं हुई है जैसी पहले होती आयी थी। संवत् १९७४ से तो तकुओं की गिन्ती लगभग ठहरी सी रह

गयी है। हाँ! सं० १९८० में चार लाख की ज़रा सी बढती हुई है। इसका थोड़ा सा कारण यह भी हो सकता है कि लड़ाई के दिनों में नई मिलों का खड़ा करना मुश्किल हो गया था। जो हो यह रुकावट अब तक दूर नहीं हुई है क्योंकि कल पुर्जों का भाव चढ़ गया है और अधिक तकुए और करघे बढ़ाने और लगाने का खर्च तो इतना बढ़ गया है कि किसी में समाई उतने खरचे की नहीं है। इसके सिवाय और भी कठिनाइयाँ है। सर्राफे की दर बिगड़ी हुई है। व्यवसाय पर रुपये और गिन्नी के भाव का बुरा असर पड़ रहा है और कारबार में ज्यादा पूंजी लगाने में ज्यादा जोखिम देख पड़ता है। होनहार बहुत अच्छा दिखाई पड़ता है। पिछले दो, तीन बरस मिलों के लिये तो बड़े ही खराब रहे हैं और उनसे पहले के बरसों में जो रोजगार चमका हुआ था और खूब नफ़ा होता था उन्हीं के बदले मानों पिछले दो तीन बरस से खराबी चल पड़ी है। संवत् १९७९ में १९७८ के मुकाबले ५०) सैकड़े से अधिक मुनाफ़ा गिर गया। संवत् १९८१ में लाभ इतना घट गया कि बहुत से मामलों में तो बहुत गहरा टोटा आया है। व्यवसाय में इस समय जैसा धक्का लगा है वैसा पहले कभी नहीं लगा था और संभलने में कई बरस लगेंगे। सं० १९७० से १९८० तक के दस बरसों में जिस ढंग से उन्नति हुई है आज कल की दशा देख कर यह कोई न कहेगा कि आगे इससे ज़रा भी ज्यादा उन्नति हो सकेगी। वह आजकल की दशा क्या है नयी मिलें खड़ी करने का खर्च असम्भव है। पूंजी की जोखिम भारी है, सर्राफे की दशा हमारे लिये उलटी है। संवत् १९८० तक के दस साल में तो करघे चालीस हज़ार तक

और तकुए छः लाख तक बढ़े थे। आगे के लिये अगर हम मान लें कि इसी हिसाब से बढ़ती होती रहेगी तो इस समय जितने तकुए हैं उन पर ३०-४० लाख और बढ़ाने में मिलों को चालीस बरस से कम न लगेंगे। अगर हम कपड़े की बुनाई का हिसाब करें तो हम देखते हैं कि मिलों में साल पीछे पाँच करोड़ गज़ों की बढ़ती होती रहती है और यह तो कहने की ज़रूरत ही नहीं कि ऐसी बढ़ती अगर बराबर होती रहे तो आगे के तीस चालीस बरस से कम न लगेंगे। आज जो डेढ़ अरब गज़ विलायती माल चला आ रहा है वह हमारी देशी मिलों से ही हमें मिले।*

परन्तु यह सवाल इतना सीधा नहीं है कि कपड़े की तैयारी बढ़ाकर बाहर की अवाई की ज़रूरत पूरी कर दी जाय। कार-बार को ज्यादा फैलाने के साथ साथ अनगिन्तियों राजनीतिक और आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। हमारी मिलों की राह में बड़ी भारी रुकावट यह है कि हमारी मिलें विदेशी कल-पुर्जों और उनके चलानेवाले अफसरों के लिये सदा से विदेशों के अधीन रही हैं और शायद बराबर रहेंगी। महीन सूत

---

* बम्बई के प्रोफेसर के० टी० शाह अटकल करते हैं कि अगर १५ करोड़ की और पूँजी लगायी जाय तो जितना कुछ कि भारत में बाहर का माल आता है वह सब मिलों में तैयार होने लगे। प्रोफेसर साहब १५ करोड़ आँकने का कोई कारण नहीं देते परन्तु यह अंक अत्यन्त कम है। असल बात तो यह है कि अगर कल-पुर्जों का खर्च ही आज कल की दर से लगाया जाय, तो तीस, चालीस लाख तक और अस्सी हजार के लगभग करघे मिलों में शामिल करने के लिये उस पूंजी के दूने से ज्यादा की जरूरत है।

के कातने में और कपड़ों की तैयारी में भी हमारी मिलों को दूसरे देशों से रुई मँगाने का मुहताज रहना पड़ता है। हम सब लोगों की सब से बड़ी अभिलाषा विलायती कपड़ों की अवाई को एक दम रोक देना है। पर सब से उत्तम प्रबन्ध भी कर दिया जाय और उत्तम से उत्तम आज तक के कल-पुर्जे भी मिल जायँ तो भी हमारी मिलों की गुलामी ऐसी है कि हम अपनी अभिलाषा पूरी करने की हद तक मिलों के व्यवसाय को बढ़ा नहीं सकते।

४२. खर्चे में कमी करना

कपड़े की तैयारी के व्यवसाय में जो और दो महत्व की बातें रह गयी हैं अब हम उन पर विचार करेंगे। एक तो है तैयारी का खर्च और दूसरा सब मिलाजुलाकर वह बचत जो देश को कपड़े के कारबार से होती है।

ठीक ठीक दशा जानने के किये इन दोनों पर इकट्ठे ही विचार करना बहुत जरूरी है। दोनों तरह के कारबार में लगने वाले खर्चों का मिलान करने के पहले दो एक साधारण बातों पर भी विचार कर लेना है। पहले तो यह याद रखना चाहिये कि जितने व्यवसाय एक जगह पर इकट्ठे किये जाते हैं, उन सब में और उसी तरह सूत और कपड़े के व्यवसाय में भी इसी बात पर विशेष रूप से जोर दिया जाता है कि जितना कम हो सके, उतने कम खर्चे में, भरसक जल्दी माल तैयार हो। ऊंचे दरजे के कल-पुर्जे या मेहनत बचानेवाली हिकमतों से मिल का मालिक यही कोशिश करता रहता है कि बाहरी और भीतरी किफायत होती रहे और इस तरह उपज का खर्चा घटा रहे। हाथ की कारीगरी

में खर्च घटाने के लिये तो कम कोशिश होती है पर जहाँ तक हो सकता है, खर्च को उड़ा ही दिया जाता है। कारीगरी में तो उपजानेवाला माल का खपानेवाला भी होता है और जब ऐसा होता है कि कातनेवाला अपने या अपने परिवार के लिये काम करता है तो तैयारी के खर्च का कुछ भाग उड़ जाता है। तब कताई कुछ नहीं लगती और कपड़े की तैयारी में रुई का दाम बुनाई की मजूरी ही जोड़ी जाती है। हमने यह हिसाब दिखा दिया है कि कातनेवालों के लिए सभी नम्बरों के सूत के कपड़े का भाव लगभग बराबर ही रहता है। इस अनोखे सस्तेपन को भारतीय या विलायती मिल कभी पहुँच नहीं सकतीं परन्तु **यह तो खर्च को बिलकुल उड़ा देना है घटाना नहीं है,** घर के कामकाज के लिये मेहनत लगा देना है और जल्दी माल तैयार करनेवाली कलों को लगाकर मेहनत मजूरी को हटाना नहीं है। हाथ कताई की सब से भारी अच्छाई इसी बात में है कि इस तरह पर एक खर्च को बिल्कुल उड़ा देने का इसमें मौका मिलता है, जिसका अन्त में फल यह होता है कि देश में उपजाने की योग्यता जितनी छिपी हुई है वह पूरे तौर पर काम में आती है। इस मामले में हाथ कताई का मुकाबला कोई व्यवसाय नहीं कर सकता।

४३. खर्चों का मुकाबला

इस बात से किसी को इनकार नहीं हो सकता कि मिलों में जो माल की इकट्ठी तैयारी होती है उसके कारण आज थानों के दाम खद्दर की अपेक्षा बहुत कम हैं, खद्दर के सब से बड़े अच्छे

केन्द्रों में भी सफेद थानों की तैयारी ३६ इंच के पनहे के लिये ।=)॥ ४५ इंच के पनहे के लिये ॥)॥। ५० इञ्च के लिये ॥=) और ५४ इंच के लिये ॥=)॥। है। इसी नम्बर और बुनावट के मिल के कपड़े बहुत कम लागत पर बनते हैं और शायद दोनों में मिलान करने से एक या पौने दो गुना या इससे अधिक अन्तर पड़ेगा। सूत के भाव में जो भेद है उससे बात साफ हो जाती है।

सूत का नम्बर	हाथ के सेर भर सूत का दाम	मिल के सेर भर सूत का दाम
१० से १२ तक	१॥=) से १॥।)* तक	१) से १।) तक
२०	३)	२) से कम
३०	३॥।)	२।) से कम

कताई में असल में जो खर्च लगता है उसकी दृष्टि से भी भाव में यह भारी अन्तर समझने लायक है। देशी मिलों में भी कताई का औसत खर्चा ।=) सेर के लगभग आता है। मिल में कताई में जो कुछ खर्च लगता है उसकी अटकल यों है।

कताई विभाग	सेर पीछे खर्च पाइयों में
इंजन, बैलट, आदि का मिस्त्री और फुटकर खर्च	६·१६
फूँकने और मिलानेवाले विभाग का खर्च	२·००
धुनकनेवाले विभाग का खर्च	१·५
फ्रेम में खींचने, कंघी करने आदि का खर्च	६·५

* इस सूत के चरखे पर कातने के लिये जो रुई काम में आती है, वह मिलों की रुई की अपेक्षा बहुत अच्छे दर्जे की होती है।

१८-२० अश्वबल के रिंगथासिल अंजन का खर्चा	१८'००
परेतने का खर्च	२'००
बाँधने और गाँठें कसने का खर्च	'५
सामग्री की खरीद	१२'००
कोयले का खर्च	८'००
दफ्तर और प्रबन्ध का खर्च	६'००
सूद आदि साधारण खर्च	१२'००
कुल जोड़	७४'६६

यह खर्चा लगभग ।≈)। सेर के हुआ । इसीके मुकाबले दफ्तर और प्रबन्ध के खर्चे को नहीं जोड़ते तब भी हाथ के कते सूत में सेर पीछे आठ आने से नौ आने तक खर्च पड़ता है । बुनाई में भी हाथ के करघे पर खद्दर बुननेवालों को जो खर्च दिया जाता है वह मिल की बुनाई के खर्च से बहुत ज्यादा है । मिल में बुनाई का जो कुछ खर्च लगता है उसकी अटकल यों है—

विधि	तैयार माल का खर्च सेर पीछे
नरी भराई, ताना पाई का खर्च	९'००
बुनाई का खर्च	३४'००
कलप कराई और तहकराई	३'००
कच्चे माल का खर्च	१९'००
कोयले का खर्च	५'५०
दफ्तर और प्रबन्ध का खर्च	५'००
साधारण और और खर्च	१६'००
कुल जोड़	९१.५०

यह सेर पीछे ।≡)।।। की लागत हुई । लेकिन हाथ के करघे पर बुननेवाले सेर पीछे ।।।) से अधिक पाते हैं । इससे यह मतलब नहीं निकलता कि खद्दर के भाव को घटाना बिल्कुल असम्भव है । कताई और बुनाई की मजूरी की दर का परिमाण जब बँध जायगा, और कातनेवाला आप अपनी कपास जमा करने लगेगा, जब करघे और चरखे से तैयार किया हुआ माल अधिक चोखा उतरने लगेगा और मामूली तौर से माल ज्यादा तैयार होने लगेगा तो बहुत ऊँचे दर्जे की किफायत हो जायगी, और खद्दर का भाव मिल से मिलाने के लायक हो जायगा । पिछले ही दो बरसों में खादी के भाव में बहुत सुधार हो गया है । संवत् १९७९ में जहाँ ३६ इंच के पनहे का भाव ।।≡) गज़ था, वहाँ अब सात आने गज़ हो गया है । ४५ इंच के पनहे का भाव जहाँ ।।।) था वहाँ ।।–) हो गया है और ५० इंच के पनहे का भाव ।।।=) से ।।=) हो गया है, ५४ इंच के पनहे का भाव लगभग १) से ग्यारह आना हो गया है । इसका कारण थोड़ा बहुत रुई का सस्ता हो जाना भी है । जिन केन्द्रों में सस्ता माल बनता था, उनमें खर्चा घटाने की बहुत कोशिश हुई, परन्तु बात इतनी ही नहीं है । भाव का विचार टिकाऊपन के साथ होना चाहिये । इस बात को कट्टरता से मान लेना कि खादी टिकाऊ ही होती है, सहज नहीं है । यह तो साफ़ है कि सिद्धान्त के अनुसार विचार किया जाय तो धुनकी से धुनकर और चरखे से कता हुआ सूत मिल के सूत से अच्छा होना ही चाहिये । इस सम्बन्ध में इन्दौर रियासत के कताई बुनाई के सरकारी अफसर की लिखी हुई एक पोथी बड़े काम की देखने में आयी है । यह बड़ी योग्यता से लिखी गयी है । इसमें

वैज्ञानिक रीति से ठीक ठीक विवेचना की गयी है। और जिन जिन विधियों से मिलों में सूत कतता है उनका हाथ की कताई की विधियों से मिलान किया गया है और अन्त में इसका फल योग्य लेखक ने यही निकाला है कि हाथ का सूत मिल के कते सूत से हर तरह पर अच्छा है। यह तो बात अच्छी तरह से जानी हुई है कि बरसों पहले विलायती कपड़े के मुकाबले में भारत का खद्दर बहुत अच्छा होता था। एक लेखक के बाद दूसरा लेखक उसके सस्तेपन को ही नहीं, बल्कि उसके टिकाऊपन की भी बड़ाई करता आया है। अभी तो संवत् १९२३ में ही इस देश के सूत के कपड़े की चोखाई मिस्टर फर्ब्स वाटसन कबूल कर चुके हैं। जैसे पहले ऐसी उचित बड़ाई हो चुकी है, वैसे ही जब हाथ की कताई बुनाई पक्की और पोढ़ी नींव पर खड़ी हो जायगी और उसके अच्छे से अच्छे होने का सिक्का जम जायगा तो आगे भी ऐसी उचित सराहना होती रहेगी।

४४. सब मिलाकर बचत

मिल से और हाथ से तैयार किये हुए कपड़े से राष्ट्र को जितना लाभ और जितनी बचत होती है, उसकी अच्छी तरह जाँच होनी चाहिये। ऊपर जो खर्चों का मिलान किया गया है बिना इस जाँच के बहुत भ्रमपूर्ण हो सकता है। मिल से कपड़े की तैयारी में जो कुछ लाभ होता है उसे राष्ट्र सैकड़ों और बातों में खो रहा हो तो क्या आश्चर्य है और यह हो सकता है कि राष्ट्र को जितना लाभ होना चाहिये था उतना न होता हो। यह बहुत

संभव है कि अधिकांश पहननेवाले जिन्हें मिल का कपड़ा पहनना पड़ता है बड़ी भारी रकमें बाहर उड़ा देते हों और शायद हाथ के बने कपड़े से यह हानि बच जाय। जो जो खर्च हर साल मिल के काम में लग जाते हैं और जिन्हें बिलकुल उड़ा देना सहज है उनसे देश का धन असल में बरबाद होता है। ऐसे बन्द कर देने लायक खर्च यह हैं।

खर्च की मद	खर्च की रकम	हाथ की कताई में कितने सैकड़ा हट सकता है
१—मिल के सूत को और कपड़े को भेजने में भाड़ा-बीमा-और बिचवई के खर्चे	साढ़े तीन करोड़ रुपया	सैकड़ा पीछे पचास
२—रुई की बीस लाख गाँठों को मिल तक पहुँचाने बीमा कराने और बिचवई का खर्च	साढ़े चार करोड़ रुपया	सैकड़ा पीछे पचास
३—मिल के सामान कल, पुर्जों के मँगवाने का खर्च	इसके अंक घटते बढ़ते रहते हैं इससे पिछले ४ बरस संवत् १९७६ से ८० तक का औसत देते हैं पचास लाख	सैकड़ा पीछे सौ
४—भारत में रुई पर का कर [जो उठा लिया गया]	दो करोड़ दस लाख रुपये	सैकड़ा पीछे सौ

४—आमदनी पर साधारण और असाधारण कर	पचास लाख रुपये	सैकड़ा पीछे सौ
६—स्थानीय और चुङ्गी के कर	बारह लाख	सैकड़ा पीछे पचहत्तर
७—म्यूनिसिपल कर-और पानी का महसूल	पंद्रह लाख रुपये	सैकड़ा पीछे सौ
८—छीजन खर्च	औसत सत्तर लाख रुपये	सैकड़ा पीछे सौ

मद १, २, ३, ५ और ८ से तो बहुत भारी खर्चा ज़ाहिर है और भारत की भयंकर हानि होती है। कपड़े बुनने के काम में मिलों में जो कल पुर्जे लगते हैं उसके मँगवाने का खर्च जो पिछले ४ साल में हुआ है समझने लायक है। वह यों है—

१९७६	१९७७	१९७८	१९७९
२,७८,५३,२६०)	६,४५,०५,८१०)	१२,०६,३३,०५६)	६७,०८,०३०)

कल पुर्जों के मामले में मिलों को विदेशी कारखानों और इञ्जिनियरों के भरोसे रहना पड़ता है इसीलिये उनमें सुधार के लिये या समय समय पर पुर्जे बदलने के लिये भारी भारी रकमें लगानी पड़ती हैं। एक बात और भी ध्यान में रखने लायक है कि किसी मिल के खड़े करने में इंग्लिस्तान में जो खर्चा लगता है, भारत में उसके दूने से अधिक लग जाता है। कठिनाई इतनी ही नहीं है। मिलों की आगे होनेवाली बढ़ती का भी सीधा मतलब यही है कि सदा के लिये विदेशों की मदद का मुहताज रहना पड़ेगा और यह बहुत भारी बाधा है। सरकार को और दूसरे विभागों को साल में तीन करोड़ के लगभग कर देना पड़ता है। और

अगर रुई पर का कर बिलकुल हटा हुआ मान लिया जाय तो भी एक करोड़ रुपये देना रह ही जाता है। माल के आने जाने और इसी तरह के और खर्चे अभी सात से आठ करोड़ रुपये तक जो पड़ता है, हाथ की कताई के भारत में व्यापक हो जाने पर बिल्कुल उड़ जायगा। इनके सिवाय खर्चे के और भी मद हैं जैसे विज्ञापन और ऊपर के मदों के खर्चे। यह भी हाथ की कताई से अत्यन्त कम किये जा सकते हैं। सब मिला जुला कर राष्ट्र की बचत के ऊपर और तरह पर भी विचार किया जा सकता है। मिलों में काम होने से जो कुछ खर्च लगता है उसके भिन्न भिन्न मदों को अच्छी तरह से छानबीन कर देखें तो यह समझ में आ सकता है कि हाथ की कताई में देश को मिल के खर्चे का सैकड़ा पीछे कितना भाग बच जा सकता है। अहमदाबाद शहर की पाँच नमूने की मिलों के अंक नीचे दिये जाते हैं।

कपड़ा तैयार करने में खर्च	गुजरात स्पिनिंग मिल	भारतखण्ड काटनमिल	अहमदाबाद मनूचन्द्रमिल	अहमदाबाद न्यूकाटनमिल	राजनगर मिल्स	सैकड़ा पीछे औसत
१ मजूरी	१५.९	१७.६	१६.५	१४.८	२१.२	१७%
२ खर्च होने की सामिग्री	१८.३	८.८	९.७	११.४	११.२	१२%
३ ईंधन	३.६	४.१	३.४	३.१	३.६	३.५%
४ सूद	१.२	२.९	२.६	३.४	——	२.५%
५ कमीशन	१.३	२.९	४.३	४.०	——	२.५%
६ कर	९.९	५.९	७.१	३.१	४.२	[illegible].५%
७ रुई	४४.२	५०.०	४८.०	५३.५	६.४०	५३%
८ छीजन	५.१	२.९	२.३	२.८	——	३%

ईंधन, बीमा, कमीशन, कर और छीजन इन सब का खर्च मिलों में सैकड़ा पीछे पन्द्रह तक पड़ जाता है। हाथ के बल से काम लेने में चाहे कताई और बुनाई दोनों में बहुत ज्यादा मजूरी देनी पड़ती है तो भी मिलों से कपड़ों के बनने में राष्ट्र का जितना बेकार खर्चा पड़ता है इसमें शक नहीं कि वह बेकार खर्चा हाथ के काम में बच जाता है और देश की भारी बचत के लिये एक बड़ा मैदान छोड़ देता है। इस तरह पर विचार करने से सब मिलकर मिल से बने कपड़े देश को बहुत ज्यादा महँगे समझे जाने चाहियें। और हाथ की कताई-बुनाई में बड़ी किफ़ायत समझी जानी चाहिये।

४५. काम करनेवालों पर समाज का प्रभाव

अर्थ-शास्त्र की दृष्टि से विचार कर लेने के बाद एक बहुत भारी और महत्व का प्रश्न यह रह जाता है कि दोनों तरह के व्यवसायों का जनता के ऊपर क्या सामाजिक प्रभाव पड़ता है। जहाँ तक मजूरी पाने से सम्बन्ध है यह तो प्रकट ही है कि मिलों से पूरी आबादी का एक किनारा भी छू नहीं जाता। इस समय जितने लोग मिलों में मजूरी कर रहे हैं उनकी गिनती चार लाख से ऊपर नहीं है और इसी गिनती में हम दलालों को, बिचवइयों को जैसे बजाज़ आदि और उन दूसरे लोगों को जो इसी व्यवसाय के भरोसे जीते हैं शामिल कर लें तो उन सब की गिनती दस लाख प्राणियों से कभी बढ़ नहीं सकती। हाथ के करघे में जितनी भारी आबादी लगी हुई है, उसी से मिलान करें तो यह दस लाख कुछ भी नहीं ठहरता।

और उनकी तो कोई चरचा ही नहीं है जो बेकार पड़े हुए हैं और चरखे की तरह के किसी सहायक धंधे की बाट देख रहे हैं। देश में दरिद्रों की गिनती इतनी भारी है कि मिलों की गिनती दूनी हो जाने पर भी उनके लिये ऐसा रोज़गार देने में बिल्कुल असमर्थ होगी जिसका कोई शुमार हो सके। असल बात तो यह है कि मिल-व्यवसाय के बढ़ जाने से और मेहनत बचाने वाली हिकमतों के लगाने से आगे और ज्यादा कुलियों का भरती होते रहना बराबर घटता ही जायगा। भारतवर्ष यह नहीं चाहता कि थोड़े लोगों के हाथों में धन सिमट कर इकट्ठा हो जाय। उसकी भलाई तो इसी में है कि बहुत से लोगों में या जनता में उचित रीति से बँटे। भारतवर्ष को इस समय बड़ी ज़रूरत इस बात की भी है जो असंख्य लोग बेकार हैं उन्हें काम मिले। सारे देश में फैली हुई जो किसानों की आबादी है उनकी दशा और हैसियत के अनुसार फ़ुर्सत की घड़ी के लिये काम मिलना ही चाहिये। राष्ट्र के यही उद्देश्य हैं और यह मिलों से पूरे नहीं हो सकते। माल की तैयारी कितनी ही अच्छी हो देश में सम्पत्ति के बराबर बराबर और न्याय से बँटने में मिलें कभी मदद नहीं दे सकती। फैलाने के बदले, और गरीबों के घर जा जा कर खिलाने पहनाने वाले रोजगार को द्वार द्वार पहुँचाने के बदले, मिलें सारे कामों को समेट कर एक स्थानीय कर देती हैं। कताई के फिर से जारी करने से ही ऐसे करोड़ों आदमियों की मेहनत का इकट्ठा लाभ उठाने का अवसर मिलता है जो लाचारी से दरिद्र और बेकार पड़े रहते हैं। और परम्परा से कताई बुनाई की हाथ की कुशलता जो युगों से चली आयी है और बड़े वेग से नष्ट होती जा रही है वह फलदायक

काम में लगा दी जाती है। तब करोड़ों बेकारों को ऐसा काम मिल जायगा जिससे उनको किसी तरह की नैतिक या वास्तविक असुविधा न रह जायगी। मिलों के बहुत बढ़ जाने से कुलियों की आबादी बढ़ जाती है और मिलों के जीवन से उनके शरीर का ह्रास हो जाता है और वह नैतिक पतन से किसी तरह बच नहीं सकते। उनके रहने की जगहें बड़ी भयानक हो जाती हैं। यह सब विपत्तियाँ गाँव की कारीगर आबादी को नहीं मालूम हैं। मिलों में जो कड़ी मेहनत करनी पड़ती है, अपनी इच्छा के विरुद्ध मशीनों की भी गुलामी करनी पड़नी है, उससे उसके शरीर की दशा ऐसी बिगड़ जाती है कि वह जीते जी मुर्दा सा हो जाता है। उसे सदा मशीन के शोरगुल में जीवन बिताना पड़ता है। मशीनों के अत्याचार से वह बच नहीं सकता। उसे बड़े बुरे मकानों में रहना पड़ता है जिनमें हवा और रोशनी का गुज़र नहीं होता। वह साफ़ हवा के लिये तरस जाता है। उसे अच्छी संगति नहीं मिलती जिससे कि वह नशे आदि बुरी लतों से बच सके। मिल के मजूरों के कष्ट अनगिनत हैं। उन्हें दूर करने के लिये बड़े धीरज से सामाजिक काम करने की आवश्यकता है। परन्तु कितना ही कुछ परिश्रम किया जाय मिल की मजूरी से उसके ऊपर जो प्रभाव पड़ जाता है वह मरते दम तक मिटाये नहीं मिटता। गाँव का कारीगर मिल के मजूरों के मुकाबले ज्यादा तगड़ा और भला चंगा रहता है। अच्छे जल वायु में जीवन बिताता है। अपने झोंपड़े में रह कर रूखे सूखे पर संतोष करता है, थोड़ी मजूरी पाता है पर अधिक खुश रहता है। देश की आगे की भलाई सचमुच कारीगर के हाथ में है। मिस्टर हैवेल ने ठीक ही कहा है कि गाँव के कारीगर को अपनी

कला और शक्ति से अपनी घर गृहस्थी और सारे अड़ोस पड़ोस को भर देना है। हाथ के बुननेवाले को भाँति भाँति के बुनाई के काम में अपनी अद्भुत कला दिखानी होगी और अपनी कारीगरी का छाप लगाना पड़ेगा। भविष्य में ऐसा ही होगा इस बात की बड़ी आशा है। आगे का कारीगर बड़े नाजुक स्वभाव का होगा। जो कपड़ा बुनेगा उसकी चोखाई के सम्बन्ध में उसे अपनी इज्जत का ख़याल रहेगा। वह समझेगा कि मैंने इसमें अपनी इज्जत और चतुराई लगायी है और तैयार माल मेरे हाथ की बनी हुई चीज़ है। ऐसा न हो कि कोई नाम धरे और जब वह स्वाधीन कारबारी की हैसियत से माल तैयार करेगा तो वह राष्ट्र की रुचि को बहुत सुन्दर बना देगा। और इस बात की कोशिश में रहेगा कि यह रसिकता नष्ट न होने पावे। उसके हाथ में काफ़ी काम रहेगा कि वह अपनी योग्यता को सोलहों आना काम में ला सके। मिल वाले की तरह वह शरीर से क्षीण न होगा। उसकी आत्मा दुर्बल न होगी। वही राष्ट्र का भावी नागरिक होगा और राष्ट्र के वीरों को पैदा करेगा। उस समय एक ऐसा व्यवसाय फिर से जीवित हो चुकेगा उसके सामने सम्पत्ति और संस्कार का एक नया भविष्य दिखाई पड़ेगा। और तभी यह राष्ट्र सौन्दर्य का घर हो जायगा और फिर इसे यह दो जोड़ुवां रोग नहीं सतावेंगे, एक यह कि विदेशी ढाँचे का ढला दिमाग़ न होगा और दूसरे यह कि विदेशी छाप और आदर्श का हमारा सामान न होगा।

चौथा अध्याय

चरखे से विदेशी कपड़े के बहिष्कार पर विचार

१. बहिष्कार के दो रूप

सच्चा बहिष्कार इसी में है कि जिस चीज़ का बहिष्कार किया जाय उसमें शुद्ध भाव से रुकावट डाली जाय। प्रकृति का एक नियम है कि जो कुछ एक आदमी या पूरे समाज के लिये हानि-कारक है उसे छोड़ देना चाहिये और दूर कर देना चाहिये बहिष्कार भी इसी नियम पर चलता है। पीड़ित प्रजाओं को अपनी रक्षा के लिये यह रीति युग युग में बराबर काम में लानी पड़ी है। और इसी रीति ने पीड़ित जातियों को फिर से स्वाधीन जीवन के मूल सिद्धान्तों और जातियों के प्रथम कर्त्तव्यों की ओर बराबर जगाया है। बहिष्कार की विधि रुकावट ही डालनेवाली नहीं है, रचना करनेवाली भी है। जब जातियें बाहर से रसद का आना बन्द करना चाहती हैं और स्वावलम्बी होना चाहती हैं तो उनको लाचार होकर बेईमानी से चढ़ा ऊपरी करनेवाले लोगों को और बीच बीच में आ पड़नेवालों को रोकने के लिये, और अपनी बात रखने के लिये अपने देश में रसद तैयार करनी पड़ती है। जब इँग्लिस्तान् को ज़रूरत पड़ी तो उसने भी

इसी नीति के ऊपर बाहर के माल का बहुत ज़ोरों से बहिष्कार किया। ईसा की अठारहवीं शताब्दी में अँग्रेज़ी व्यवसाय की उन्नति पर इतिहासकार लेकी यों लिखता है—

"इंगलिस्तान में कोई हाथ की कारीगरी ऐसी नहीं थी जिसकी मदद रुकावटों से न की गयी हो, या जिस पर सरकारी इनाम न मिले हों। कारीगरी के व्यवसाय में हद दर्जे की नीचता और परले सिरे का स्वार्थ था जो किसी समय इतना चढ़ गया कि राष्ट्र विप्लव हो गया और अमेरिका अलग हो गया। आयरलैंड का उठता हुआ व्यवसाय बरबाद हो गया। भारतवर्ष के नयनसुखों की कारीगरी कुचल डाली गयी। और इंगलिस्तान के घर के ग्राहकों को सभी चीज़ों पर लाचार होकर इजारे के भावों से दाम देने पड़े"।

जब अमेरिका में स्वतन्त्रता का महायुद्ध हुआ वहाँ भी इसी कूटनीति से काम लिया गया। यहाँ भी इतिहासकार लेकी उन उपायों का अच्छा चित्र खींचता है—

"राजधानी के सौदागरों ने प्रतिज्ञा लिख दी कि हम इंगलिस्तान से अब से कोई माल न मँगावेंगे। और जो माँग हम भेज चुके हैं उनको रद्द कर देंगे और जब तक स्टाम्प का कानून रद्द न हो जाय तब तक अपने ऋणों को चुकाने के लिये इंग्लिस्तान को कोई रकम न भेजेंगे। अपने यहाँ की कारीगरी को बढ़ाने के लिये भारी कोशिश की गयी कि जिसमें उपनिवेश इंगलिस्तान की मदद का मुहताज़ न रहे। अमीर से अमीर शहरियों ने इँगलिस्तान से मँगाये नये नये कपड़ों को छोड़कर पुराने या घर के कते सूत के कपड़े पहने कि दूसरों के लिये उदाहरण हों और इसलिये कि ऊन की कमी पूरी होती रहे सब ने निश्चय कर लिया कि हम भेड़ का मांस नहीं खायेंगे"।

अमेरिका के उपनिवेशों ने, और उनसे भी पहले ब्रूटिश जातियों ने, जो रुकावट और बहिष्कार की नीति स्पष्ट और ठीक ठीक चलायी, वह और ही बात थी जब उन्होंने गौं देखा तब इसका अवलम्बन किया। और वह स्वाधीन राज्य थे इसलिये वहाँ की सरकारों ने जाति के कहने के अनुसार तुरन्त ही मुस्तैदी से कार्रवाई की पर भारतवर्ष की वैसी अच्छी दशा नहीं है, नहीं तो उसकी सरकार भी देशी कारीगरी का हौसला बढ़ाती, बाहर के माल के ऊपर भरोसा न करती, भारत की सरकार जिस काम को करने की हिम्मत नहीं कर सकती, राष्ट्र को वही काम करना पड़ेगा। देश ने बेजाने ही भारतीय कारीगर और कातनेवाले का उसकी दक्षता और उसकी होशियारी का, उसके कामों और उसके आदर्शों का इतने दिनों से अब तक जो बहिष्कार कर रखा है, अगर उस बहिष्कार को हम उठा लेना चाहते हैं, और अपने देश के कारीगरों को काम के नये मौके फिर से देना चाहते हैं तो इस समय की सब से बड़ी ज़रूरत यही है कि विदेशी कपड़ों का ज़ोरों से बहिष्कार किया जाय। मनुष्य के जीवन की, एक पहली ज़रूरत कपड़ा है। अगर कपड़े के लिये कोई जाति दूसरे की मुहताज रही तो वह और किसी बात में उन्नति नहीं कर सकती। सबसे पहले अपने राष्ट्र के हित के लिये बहिष्कार की पूरी ताकतवाली नीति को अपने राष्ट्र के सामने रखना होगा। यह बात ठीक ही कही गयी है कि भारतवर्ष के व्यवसायों को फिर से जिलाना केवल व्यापारी प्रश्न नहीं है। यह तो आदि से लेकर अन्त तक पहला और आखिरी, सब से अधिक महत्व की नीति और समझदारी का प्रश्न है। उसका आदि और अन्त विधियों और कलपुर्जों

में नहीं है, उसका आदि और अन्त हर नरनारी और बच्चे के मन में होना जरूरी है। हमारे आन्दोलन का सब से नुकीला और पैना सिरा यह दृढ़ निश्चय होना चाहिये कि हम विदेशी कारीगरी के मुहताज अब से नहीं रहेंगे। और हम अपने व्यवसायों को फिर से जिलावेंगे, फिर पैदा करेंगे।

२. विदेशी आयात

तो अब भारतीय बहिष्कार को बाधक और साधक दोनों होना है। आन्दोलन से और अपनी २ ज़रूरतों को अधिक से अधिक घटा देने से निश्चय ही बहिष्कार को मदद मिलेगी। परन्तु इससे भी अधिक निश्चित उपाय यह होगा कि हम कपड़े की उपज को इतना बढ़ा दें कि जितना कुछ विदेशों से आता है देश में तैयार हुआ करे और ऐसे भी उपाय करें कि वह सब देश के भीतर खप भी जाय। विदेशी माल की जगह को भारतीय माल ले ले। इस समय बड़ी योग्यता और सफलता से जो दो तरह के काम हो रहे हैं उनमें से एक का ही अवलम्बन करने से काम चलेगा। अर्थात् यह तय करना होगा कि मिल की कताई और बुनाई या हाथ की कताई और बुनाई दोनों में से कौन सा हमारा मतलब साधने को सबसे अच्छा है। इन दोनों में से कौन से उपाय से हमारी चाही हुई बात जल्दी पूरी होगी। इन दोनों प्रश्नों से, हमें इस बात पर विचार करना जरूरी मालूम होता है कि दोनों तरह के व्यवसायों में जल्दी से जल्दी कौन से व्यवसाय का विकास हो सकता है? जो हो, अपने यहाँ के माल को विलायती माल की जगह दिलवाने के उपाय सोचने के पहले यह

अधिक अच्छा होगा कि हम इस बात को समझ लें कि जो कपड़े और सूत विलायत से आते हैं उनकी आजकल की क्या दशा है। जहाँ तक सूत का मामला है वहाँ तक तो यह कहा जा सकता है कि भारत में जितना कुल सूत खर्च होता है, उसमें से सैकड़ा पीछे केवल आठ भाग विदेशों से आता है। संवत् १९६५ से १९७९ तक के इस बरस के आंकड़ों से स्थिति का पता ठीक लग जाता है—

सम्वत्	१--सूत जो भारत वर्ष में खपा (मनों में)	२—सूत जो विदेश से आया (मनों में)	३—पहले और दूसरे की निष्पत्ति (पहलेकी सौ मानकर)
संवत् १९६९ से संवत् १९७१ तक का औसत	६७,६२,५००	५,६२,५००	८%
संवत् १९७२ से संवत् १९७४ तक का औसत	६३ ३७,५००	३,६२,५००	५%
संवत् १९७५ से सवत् १९७७ तक का औसत	७१,२५.०००	४,००,०००	५%
संवत् १९७८ का औसत	८३,६२,५००	७,१२,५००	८%
संवत् १९७९ का औसत	८८,३७.५००	७,२५,०००	८%

लड़ाई के पहले जितना सूत विदेशों से आया करता था उससे अधिक आयात नहीं बढ़ा और देश में दिन पर दिन सूत की खपत बढ़ती गयी। उसकी चाल से आयात बढ़ा नहीं, स्थायी रहा। अब सूत को छोड़कर हम जब कपड़े के थानों पर आते हैं तो यह स्थिति पाते हैं।

	संवत् १९६८ से १९७१ तक का औसत	संवत् १९७२ से १९७४ तक का औसत	संबत् १९७५ से १९७७ तक का औसत	संवत् १९७८ का औसत	संवत् १९७९ का औसत
१. विदेश से कपड़े की आयात (गज़ों में)	२८८५० लाख गज़	१८४४० लाख	१२१६० लाख	१०८०० लाख	१५७७० लाख
२. कुल कपड़ा जो भारत में खपा (गज़ो में)	४६,१७० लाख गज़	३८८४० लाख	३२६५० लाख	३५३१० लाख	४१८६० लाख
३. पहले को सौ मानकर दूसरे की निष्पत्ति	५७½%	४७%	३७½%	३०%	३७%
४. आयात की मालियत कितने करोड़ रुपये हुई	५०	४१	५६	६०·७	५९·३

बाहर से आनेवाले सूती माल की मात्रा बहुत घट गयी है। अब भारतवर्ष में जितना कपड़ा खर्च होता है उसको सौ मान लें तो केवल ३७ भाग विलायती सूती माल आता है। तो भी विदेश से आनेवाले सूती माल की मालियत में कमी नहीं आयी है। बल्कि कपड़े के रूप में जो धन खिंच कर बाहर विदेशों में चला जाता था अभी उसी तेज़ी से जारी है। इसी बात से हम यह पता लगा सकते हैं कि किन कारणों से आयात की मात्रा में कमी आगयी है। उन कारणों को विस्तार से वर्णन करना ज़रूरी नहीं है। परन्तु उन कारणों में पिछले चार बरसों में बहिष्कार सम्बन्धी प्रचार, देशी माल और विशेष कर खद्दर को अधिक पसन्द करना, देश में कपड़े का साधारण तौर पर कम खर्च होना, सर्राफे की चांचलता और बड़ी आवश्यकता, विदेशी कपड़े का मँहगा होना भी शामिल हैं। विदेशी माल के आयात के घटाने इनमें से हर एक कारण रहा है। यह तो सहज ही मान लिया जा सकता है कि विदेशों से माल की आमद अब उस दर पर नहीं पहुँच सकती जिस पर युद्ध के पहले पहुँची थी। यह उस बहिष्कार आन्दोलन की बदौलत है, जो बहुत ही उचित रूप में देश में चलाया गया है। लेकिन अगर यह निश्चय हो कि विदेशी माल यहाँ पर आवे ही नहीं या बिल्कुल आना बन्द हो जाय तो इसके लिये देश में माल पैदा करने के जो साधन हों उनका तुरन्त विकास होना चाहिये, या कोई नया साधन तुरन्त काम में लाना चाहिये जिससे डेढ़ अरब गज विलायती कपड़ा और सवा छः लाख मन से ऊपर सूत जो विदेशों से मँगाया जाता है, अपने ही यहाँ तैयार हो जाय।

३. बहिष्कार पर कुछ आपत्तियाँ

इस बात पर हम पीछे विचार करेंगे कि इस नये साधन से कैसे काम लिया जाय और यह किस तरह का हो। पहले तो हम उन आपत्तियों पर बिचार करेंगे जो बहिष्कार की नीति पर की जाती हैं। यह कहा गया है कि बहिष्कार एक तरह की आत्म-हत्या की नीति है क्योंकि न तो इस से विलायतवालों पर कोई प्रभाव पड़ेगा और न देशी कारीगरी बढ़ेगी। काले साहब का कहना है कि "युद्ध में जिस जाति ने सवा खरब रुपयों का ऋण सह लिया वह निश्चय ही साठ करोड़ सालाना की हानि सह सकती है। यह पोच दलील है। बहिष्कार का जो कुछ राज नैतिक प्रभाव इंग्लिस्तान पर पड़ेगा उसे हम बिचार से अलग भी करदें तो भी भारतवर्ष में अगर विदेशी कपडे का सफल बहिष्कार हो जाय तो उसके वाणिज्य की इतनी भारी हानि होगी कि उस के पाँव लड़खड़ा जायँगे। जहाँ एक बार ब्रिटेन के मूल व्यव-साय ने पलटा खाया उसके व्यवसाय पद्धति की सारी शक्ति पर बड़ा गहरा धक्का लगेगा। उसका साहूकारा साख और व्या-पार के सुभीते जहाजों का कारबार और बन्दरगाहों पर के रोज-गार सब की नींव हिल जायगी। लार्ड पेंटलेण्ट जैसे लेखकों ने भारतवर्ष में बहिष्कार हो जाने पर यह अन्दाजा किया है कि ब्रिटेन की हानि लगभग सवा अरब रुपये के होगी। कुछ करोड़ रुपये साल की हानि की तो कोई बात नहीं है। हानि तो इस बात की है कि सूती माल के लिये संसार का सबसे बड़ा बाज़ार ब्रिटेन के हाथों से निकल जायगा और ब्रिटेन उसे खुशी से कभी छोड़ना

न चाहेगा। काले साहब का यह मान लेना कि बहिष्कार से देशी कारीगरी बहुत नहीं बढ़ेगी बिलकुल निराधार है। यह तो एक बहिष्कार की नीति की ही बदौलत है कि हमारे देश पर दबाव डाल कर अपने मतलब का कच्चा माल उपजवाया और बढ़वाया जाता है और देश का धन खींच कर उससे अपना स्वार्थ साधा जाता है। हाँ, यह बहस की जा सकती है कि ऐसा बहिष्कार व्यवहार में नहीं आ सकता। मिस्टर कूब्रो की तरह के लेखक ऐसी ही दलील पेश करते हैं। मिस्टर कूब्रो कहते हैं कि बाहर से आनेवाले मालों में तीन चौथाई तो ऐसे हैं जिनमें चढ़ाऊपरी का तो कोई सवाल नहीं है। इसलिये बहिष्कार व्यवहार में आने वाली चीज़ नहीं है।* इसका जवाब बिलकुल साफ़ है कि बहिष्कार के साथ साथ राष्ट्र की रुचि भी ज़रूर बदल जायगी। और यह कठिनाई बहुत कुछ अपने आप दूर हो जायगी। जहाँ राष्ट्र के मन में बात बैठ गयी और दृढ़ संकल्प हो गया फिर तो जिन विदेशी मालों पर चढ़ा-ऊपरी का सवाल नहीं है वह भी चढ़ा-

---

* मिस्टर कूब्रो यह भी कहते हैं कि बहिष्कार से मिलवालों को देश लूटने में अप्रत्यक्ष रूप से मदद मिलेगी। परन्तु यह विश्वास नहीं होता कि मिलवाले ज्यादा लोभ दिखायेंगे और बहिष्कार में सहायता देने से इनकार करेंगे। देश के साथ उन्हें भी बहुत कुछ अनुराग है और भारी सम्बन्ध है और अपने व्यवसाय में तो उनको अधिक रस है। कपड़े के बाजार के और और भी हथियाने का अच्छा मौका देख कर वह छोड़ न देंगे। पर केवल नफ़े के पीछे न मरेंगे। फिर बहिष्कार का फल यह होगा कि हर साल बराबर चरखे का कारबार बढ़ता जायगा। जिससे मिलों के भाव के ज़्यादा चढ़ने में कुछ थोड़ी सी रुकावट रहेगी।

ऊपरी वालों में आ जायँगे। कहते हैं कि जो माल लंकाशायर से आता है वह भारतीय मिलों और हाथ के करघों से नहीं निकल सकता पर इसका मतलब यह नहीं है, कि जब तक भारत में उसी तरह का माल न बने तब तक भारतीय माल लंकाशायर के माल की जगह ले ही नहीं सकता। अगर बात ऐसी ही हो तो मिल और चरखा संगठन दोनों की जुड़ी हुई ताक़त भी दशा को कभी सुधार नहीं सकती। खद्दर का एक थान जिसका सूत दस नम्बर या उससे कम का भी हो अगर अत्यन्त महीन नम्बर के सूत के बड़े अच्छे बुने कपड़े की जगह पर खरीदा जा सकता है, तो वह ज़रूर ही विलायती कपड़े का मुकाबला कर रहा है। मिस्टर कूब्रो ने देश को एक चेतावनी दी है कि बहिष्कार का फल यह होगा कि जिस विलायती माल पर चढ़ाऊपरी नहीं है वह सस्ता हो जायगा और देश में उसकी खपत बढ़ जायगी। यह दलील इसलिये उठायी गयी है कि मिस्टर कूब्रो ने यह भ्रमपूर्ण बात मान ली है कि जिस माल पर चढ़ा-ऊपरी नहीं है वह बहिष्कार आन्दोलन से सदा बचा रहेगा। बहिष्कार विदेशों के कपड़े को अवश्य रोकता है, चाहे वह मुक़ाबले के हों या न हों, और उससे देशी कारीगरी अधिकाधिक उन्नति और प्रोत्साहन पाती है।

४. मिल या चरखे का कार्यक्रम

बहिष्कार को व्यवहार में लाने के लिये कुछ लोगों की सीधी सी सलाह यह है कि मिलों का बेठिकाने विस्तार कर दिया जाय। बारम्बार यही दलील पेश की गयी है कि विदेशी का सफल बहिष्कार तभी होगा जब देशी मिलों को कपड़े तैयार करने की पूरी

समाई भर फैलने का मौका मिलेगा। मिलों के विस्तार की संभावनाओं पर हम अच्छी तरह विचार कर ही चुके हैं। पर हम जिस नतीजे पर पहुँचे थे उसी को यहाँ दुहरा देना काफ़ी होगा कि मिल व्यवसाय के लिये यह सम्भव ही नहीं है कि अगले दस पाँच बरस में भी उनका ऐसा विकास हो सके कि कपड़े के बारे में भी उनके बल पर राष्ट्र स्वावलम्बी हो जाय। परन्तु तौ भी मिलों को बहुत कुछ मदद करनी चाहिये और करेंगी। जहाँ संवत् १९७० में मिलों में एक अरब दस करोड़ तीस लाख गज कपड़ा बना था, संवत् १९८० में एक अरब उन्नासी करोड़ चालीस लाख गज़ कपड़ा बना। दस बरस में सैकड़ा पीछे पचास उन्नति हुई। वह अपने उपज को बढ़ाते जा सकते हैं या जिस हद तक उन्होंने पहुँचाया है कम से कम उसी हद तक रखें। इसके सिवाय मिलों से यह बड़ी मदद मिल सकती है कि जब तक बहिष्कार जारी रहे वह अपने भाव न बढ़ावें। देश के साथ उनका भी भारी कर्तव्य है और अगर वह अपना भाव घटाये रहेंगे, केवल नफ़ेकी ओर नहीं ध्यान देंगे और इस समय जो देश की बाजी लगी हुई है उसकी तरफ ख्याल रखेंगे, तो अपने कर्तव्य में नहीं चूकेंगे। देश से विदेशी कपड़ों का पूरा बहिष्कार जो अपना उद्देश्य है उसे अगर मिलवाले अकेले पूरा न कर सकें, तो मिल वालों के साथ साथ किसी और साधन का पूरा विकास इस उद्देश्य की सिद्धि के लिये करना ही होगा। यह साधन होगा हाथ की कताई-बुनाई, चरखा और करघा*। हाथ-कताई से क्या क्या

---

* देश में जितना कपड़ा चाहिये उसका एक भाग तो हाथ के करवे

हो सकता है इस पर हम साधारण विचार कर ही चुके हैं, परन्तु अभी हमें विस्तार से इस बात की जाँच करनी है कि हमारे व्यवसायी जीवन में किस हद तक चरखे का विकास करना होगा कि हम सफलता से विदेशी कपड़ों का बहिष्कार कर सकें। अभी तो डेढ़ अरब गज कपड़ा और साढ़े सात लाख मन सूत जिससे कि तीस करोड़ गज कपड़ा और बनेगा † विदेशों से आता है। देश में एक अरब ८० करोड़ गज कपड़े की तैयारी के लिये पंद्रह लाख के लगभग हाथ के करघों की ज़रूरत होगी, अगर हम यह मान लें कि करघा पीछे, साल में औसत सौ गज कपड़ा बुना जायगा और जितने सूत की आवश्यकता होगी उतना तैयार करने के लिये लगभग एक करोड़ ❀ के चरखे चलने लगेंगे। जितने

तैयार कर ही रहे हैं परन्तु लगभग सब के सब विदेशी या मिल का सूत काम में लाते हैं। संवत् १९७२ से लेकर अब तक हाथ के करघों पर कपड़ों का बुनना बढ़ता जा रहा है।

हाथ के करघे से कितना कपड़ा बुना गया

सम्वत् १९७२ से १९७४ तक	७२,३०,००,००० गज
सम्बत् १९७५ से १९७७ तक	७२,३०,००,००० गज
सम्बत् १९७८ में	९४,४०,००,००० गज
सम्बत् १९७९ में	१,१०,३०,००,००० गज

† विदेशी सूत महीन होता है इसलिये आधसेर में पाँच गज कपड़े का औसत रखा गया है।

❀ साल में सवा मन के लगभग अगर चरखा पीछे कताई की कूत की जाय तो पचास लाख चरखों से साढ़े बासठ लाख मन सूत साल में कतेगा। जिससे कि दो अरब गज कपड़ा बन सकता है। पर अगर चरखे

चरखे और करघे देश में मौजूद हैं उनसे तो बहुत कुछ आशा की जा सकती है, पर सवाल यह है कि अपनी मनचाही बात पूरी करने के लिये उनसे किस तरह काम लिया जाय। एक कोई कार्य-क्रम बनाया जाय कि जितना कुछ राष्ट्र हमारे गाँवों में रहता है उसकी उपजाने की पूरी ताक़त पूरे तौर पर काम में आवे और उसी कार्यक्रम पर हम लोग बराबर डटे रहें।

५. खद्दर की मांग को बढ़ाना चाहिये

बहिष्कार के समय में अपने कपड़े की ज़रूरतों को भरसक घटाये रहने से राष्ट्र के काम में बड़ी सहायता मिलेगी। बहिष्कार का प्रश्न कम कठिन हो जाय यदि वह लोग जो कीमती और भड़कीले वस्त्र पहन सकते हैं उन्हें छोड़ दें और अपनी रुचि को बस में रखकर ऊँचे देशानुराग को क़बूल करें।

बहुत अमीर लोगों में, जो राष्ट्रीयता का नाश हो रहा है और मध्य वर्ग के अमीरों में भी जो बड़ी तेज़ी के साथ फैल रहा है उसे तुरन्त रोकने की ज़रूरत है। खद्दर के प्रचार से कुछ थोड़ा सा परिवर्तन हो गया है। लोग ज्यादा सादगी से रहने लगे हैं और फजूल खरची कम हो गयी है। परन्तु जितना ही सादे जीवन का प्रचार बढ़ेगा और आरामतलबी के झूठे खयाल जितने दूर होंगे उतना ही खद्दर का प्रचार सहज होता जायगा। पर रचनात्मक पक्ष में करोड़ों कपड़े के पहननेवालों को अभी यह बात

पूरे समय तक न चलें, औसत ४ घन्टे रोज का ही रहे तो एक करोड़ चरखे या हर तीस प्राणी पीछे एक चरखा की जरूरत होगी कि विदेशी कपड़े का बहिष्कार हो सके।

सिखानी पड़ेगी कि मिल आदि देशी कपड़ों को भी छोड़कर एक-दम खद्दर ही पहनें। उनको यह भी अच्छी तरह समझाना है कि विदेशी कपड़ा एकदम छुएँ नहीं। बड़ी मेहनत और आग्रह से लगातार आन्दोलन करना पड़ेगा कि इस बहिष्कार को राष्ट्र पूरा कर सके। जहाँ कहीं इस दिशा में पूरा संगठन किया गया है वहाँ ऐसे नतीजे देखे गये हैं कि आश्चर्य होता है। हर खद्दर पहनने वाले को कुछ काल के लिये प्रचारक बन जाना पड़ता है। राष्ट्र को सब की आवश्यकता है। उद्देश्य यह है कि राष्ट्र की रुचि एक दम उलट जाय। बारीक बुनावट और सस्ते दामों का लोभ बाजारों में जिन करोड़ों आदमियों को खींच ले जाता है उन्हें घोर दरिद्रता से बचाना है और राष्ट्रीय योगक्षेम की ऊँची आवश्यक-ताओं के अनुसार राष्ट्र की रुचि को फिर से ढालना पड़ेगा। जहाँ कहीं स्थानीय बिक्री के लिये ज़ोरों से आन्दोलन लगातार होता रहा है वहाँ चरखे को अधिकाधिक प्रोत्साहन मिला है। निदान हाथ की कताई को कहीं भी हानि नहीं हुई है। इस बात पर अकसर ज़ोर दिया जाता है कि हम लोगों को ख्याल रखना चाहिये कि ऐसा न हो कि ज़रूरत से ज्यादा खद्दर तैयार हो जाय, परन्तु असल बात तो यह है कि जिसे ज़रूरत से ज्यादा तैयारी कहते हैं वह तो कोई चीज़ नहीं है। सारे देश में खादी के लिये मांग है और इस माँग को काम में लाने के लिये और बढ़ाने के लिये अगर पूरा पूरा ध्यान दिया जाय तो अधिक खद्दर तैयार करने से किसी प्रकार का आर्थिक संकट नहीं पैदा हो सकता। हमारे देश में अमीर, रईस लोग और मध्य वर्ग के लोग अभी खद्दर पहनने को बिल-कुल बाकी हैं। खद्दर के लिये यह बाज़ार बहुत विस्तृत है।

इस भारी माँग को पूरा करने के लिये बड़ी कोशिश करनी है। बहुत से प्रान्तों के बड़े बड़े शहरों में और छोटे छोटे कस्बों में भी कपड़ों के पहननेवालों में बहुत देशानुराग है और जी से खद्दर पहनना चाहते हैं पर उन्हें मिलता नहीं। ऐसी जगहों पर दूकानें खोलने की बड़ी ज़रूरत है या और दुकानों का खद्दर बेचने का हौसला बढ़ाने की ज़रूरत है। एक योजना इस तरह की बन सकती है और शहरों और कसबों के रहनेवालों में विस्तार से फैलायी जा सकती है जिसके मेम्बर खद्दर के खरीदने में एक प्रकार से एक दूसरे की मदद कर सकते हैं। मध्यम वर्ग और छोटे वर्ग के लोगों के लिए और मामूली तौर से विद्यार्थियों के लिये जो महीने महीने की आमदनी रखते हैं, बड़ा सुभीता है। बीस, तीस गाहक मिल कर खद्दर मण्डली बना लें जिसमें हर मेम्बर ३) या ४) मासिक देता हो। खद्दर भण्डार की ओर से इस मण्डली को एक निश्चित मासिक रक़म के लिये परवाना या पास मिले। मान लो कि २० आदमी ३) मासिक चन्दा देते हैं तो महीने में ६०) रु० जमा होते हैं। इस साठ रुपये में लगभग दो मेम्बरों के लिये तीस तीस रुपयों का खद्दर आ जायगा। जो शायद साल भर के लिये काफ़ी होगा। इस तरह बारी बारी से साल भर में सब मेम्बरों को खद्दर मिलता जायगा और हर मेम्बर की ज़रूरत के अनुसार उसका खद्दर मिलेगा और उसका हिसाब रहेगा। हिसाब रखनेवाली मण्डली होगी और खद्दर भण्डार से मण्डली की मार्फ़त लेनदेन होगा। खद्दर भण्डार ऐसी मण्डलियों से भाव में कुछ रियायत करेगा तो ऐसी मण्डलियों के अधिक बनने में सहायता

मिलेगी। साल भर का खद्दर इकट्ठा मिल जायगा और आपस के समझौते से सदस्य लोग सुभीते के साथ थोड़ा थोड़ा करके मंडली को रुपया चुकाते रहेंगे। जो लोग महीना पाते हैं उन्हें इस तरह थोड़ा थोड़ा खर्च करना नहीं खलेगा। पर यह केवल शहरों की बात हुई। गाँवों में तो फसलों पर आमदनी होती है और कपड़ा भी फसल ही पर खरीदा जाता है। देहातों में सदा के लिये दूकान रखना तो अभी सम्भव ही नहीं है, फेरीवालों के द्वारा बेचने की कोशिश करनी होगी। फेरीवालों को भी चाहे कमीशन देकर लुभाया जा सकता है या चाहे देहातों में इनाम की रीति से काम लिया जा सकता है। समय समय पर मेला तमाशा करके और घूम घूम कर जगह जगह माल पहुँचा कर बेचना पड़ेगा। जहाँ भारी भारी तीर्थ हैं, और जहाँ कहीं कभी कभी तीज, त्योहार हो जाते हैं वहाँ भी खद्दर की अच्छी बिक्री हो सकती है।

६. कातनेवाले का कर्तव्य

खद्दर के लिये बाजारों को अपने हाथ में करने की कोशिश में केवल अमीर, शहरियों का और मध्य वर्ग का ही कर्तव्य नहीं है। जो लोग चरखा कात कर खद्दर बुनकर उसकी उपज बढ़ाने में मदद देते हैं, उन बुनकारों और कातनेवालों को भी खद्दर की बिक्री में मदद देनी चाहिये। उन्हें अपने जी जान से इस काम को बढ़ाना चाहिये। और वह कितने ही गरीब हों उनको यह चाहिये कि खुद ज़रूर खद्दर पहनें।

७. स्थानीय संस्थाएँ भी मदद करें

खद्दर की सब से अच्छी उन्नति तभी होती है जब यह मालूम रहे कि कितनी माँग है। अगर राज्य राज़ी हो जाय तो

वह इस बात का हमको विश्वास दिला सकता है कि सरकार की ओर से जितने कपड़े खरीदे जायँगे खद्दर ही के होंगे। इस तरह से खद्दर की उपज की कुछ थोड़े भाग के लिये माँग बनी रहेगी। इसके सिवा स्थानीय संस्थायें भी जैसे म्यूनिसिपैलिटी, तअल्लुका बोर्ड, ज़िलाबोर्ड आदि अपने अपने अस्पतालों में, स्कूलों में और दूसरी संस्थाओं में खद्दर को सीधे फैला सकते हैं और खद्दर की उपज का बहुत बड़ा भाग खर्च कर सकते हैं*। वह केवल खरीदारी नहीं होगी बल्कि बिना कुछ खर्च किये ही बहुत बड़ा प्रभाव डालनेवाला प्रचार होगी।

८. उपज को किस तरह जारी रखना चाहिये

जहाँ कहीं यह व्यवसाय फ़ैला हुआ है वहाँ तो भरसक खद्दर की तैयारी के संगठन में पूरा ज़ोर लगाना चाहिये। जहाँ सूत खुले बाज़ार कातनेवाले बेचा करते हैं वहाँ ऐसे सुभीते कर देने की जरूरत है कि उनका काम बरबार जारी रहे। कताई बढ़ाने का सब से उत्तम निश्चित उपाय सूतों के मेले हैं। जिन कताई के केन्द्रों में कातनेवाले ऐसे गरीब हैं कि अपने लिये कपास जमा नहीं कर सकते वहाँ फसल पर रुई खरीद कर जमा कर लेनी चाहिये और उसका गोदाम भरसक कातनेवालों के इतने निकट

---

* कई स्थानीय संस्थाओं ने अपने स्कूलों में चरखा और तकली चलवाना शुरू कर दिया है और कुछ ने अपने यहाँ के नौकरों में खद्दर को फैलाया है। अभी हाल में अखिल भारतीय चरखा संघ की ओर से जो रिपोर्ट छपी है उसमें चरखा और खद्दर को फैलाने में जिन संस्थाओं ने सहायता की है उनकी नामावली दी हुई है।

होना चाहिये कि वह आसानी से रुई पा सकें। पर यहाँ भी बड़े ज़ोरों से आन्दोलन करना होगा कि कातनेवाले खुद अपनी कपास इकट्ठा करने को राजी हो जाय। असल में उद्देश्य यह होना चाहिये कि जो कपास इस समय रोजगार के लिये बोयी जाती है और जिससे अधिक लाभ का लालच किया जाता है वह आगे पहनने के लिये बोयी जाय। और जैसे अनाज की फसल में किसान अपने खाने को रखकर तभी बेचता है उसी तरह अपने खर्चे भर कपास रखकर तब बेचे। या जैसे अनाज अपने खाने भर के लिये ज़रूर उपजाता है वैसे कपास भी अपने खर्चे भर ज़रूर उपजावे और जैसे अपने घर रोटी के लिये अनाज न होने पर वह रोटी नहीं खरीदने जाता बल्कि अनाज ही मोल लेता है उसी तरह वह कपड़ा न होने पर कपास ही मोल ले और अपने कपड़े की तैयारी में मदद दे। पर बात इतनी ही नहीं है। कातनेवाले को कपास के काम में किफा-यत भी सिखाने की बड़ी ज़रूरत है जिसमें वह जितनी कुछ कपास रखता है सब को अच्छे से अच्छे काम में लगावे। ऐसे ही मौक़े पर यह भारी बात समझ में आती है कि जितने खद्दर के काम करनेवाले हैं सब को चरखे बनाने और बिगड़े हुए की मरम्मत करने की कला सीखे रहना चाहिये, उसके सामान को ठीक ठीक करने, रुई को उत्तम रीति से धुनने और बुनकारी का सारा काम अच्छी तरह से जानने की ज़रूरत है। खादी की उपज को दृढ़ नींव पर रखना तभी सम्भव है जब उसके काम करनेवाले इस तरह से सीखे हुए अच्छे और होशियार हों। बड़े पैमाने पर की कताई के साथ साथ जो लोग अपने मन से अपने लिये कातते हैं उनकी भी हर तरह से सहायता होनी चाहिये। बहुत से लोग इस बात

को नहीं समझते कि पाँच आदमियों के कुटुम्ब में अगर एक चरखा भी कुछ घन्टों चलता रहे तो घर को कपड़े के बारे में स्वावलम्बी करने में कितनी मदद हो सकती है। एक उदाहरण ले लीजिये तो कुछ लाभ समझ में आ जायगा।

(क) एक घराने में पाँच प्राणी हैं जिनके खर्च के लिये गज़ भर पनहे का साल में ८० गज़ कपड़ा चाहिये। या महाने में साढ़े छः गज से कुछ ऊपर कपडा चाहिये।

(ख) साढ़े छः गज कपड़े के लिये चौदह छटाँक सूत की ज़रूरत होगी।

(ग) एक चरखा दो घन्टे रोज़ बराबर चले तो १५ नम्बर का १४ छटाँक सूत महीने भर में तैय्यार हो सकता है!

इस तरह परिवारों के लिये और अकेले प्राणियों के लिये यह आसान है—केवल इतना संकल्प कर लेने की आवश्यकता है—कि अपनी ही मेहनत से अपने लिये खद्दर तैयार करा लें। हाथ के कते हुये सूत को बिनवाना ही यदि उद्देश्य समझा जाय और उसको जिलाना और पालना मंजूर हो तो भी हर आदमी चरखा काते। इस बात पर ज़ोर देने की ज़रूरत है। जो बात अपने आप बैठकर कातने के बारे में कही गयी है वही इकट्ठे होकर कातने में भी लगती है। इन रूपों में शहरों में कातनेवाली मण्डलियाँ बन जायँ तो हाथ की कताई के प्रचार में अच्छी मदद मिले।* ऐसी ही कताई के फैलाने से इस व्यवसाय को वह उत्तम प्राचीन दशा आ

* आदर्श चरखा मंडली में बीस सदस्य हो सकते हैं। एक धुनेगा। एक सब का सहायक हो जो धुनवाने, परेतने, और सूत की रक्षा का बन्दोबस्त करे।

आ सकती है जिसमें खद्दर का बनानेवाला और पहननेवाला एक ही था। न कोई बीच का व्यापारी था और न कपड़े की तैयारी के लिये कोई पूंजी इकट्ठी करने की ज़रूरत पड़ती थी। घर की कताई में जो किफायत है एक बार जहाँ समझ में आ गयी और मन में बस गयी तो फिर उसकी तरफ शौक हो जाता है और वह बराबर जारी रहती है। कातने की कला तो लोगों की सुस्ती से खो गयी। पर अब से ऐसा न होने पावे कि घर की कताई के लोगों को वही सुस्ती फिर अपनी आड़ में छिपा ले।

६. परिणाम

आज तक की सारी जानी हुई शक्तियों से संगठित एक नियामक संस्था बनाने की जरूरत है जो इस आन्दोलन की हर तरह पर सहायता करे, रुपया इकट्ठा करे, ऋण दे, ज़रूरत की घड़ी पर मदद करने की विधि निकाले, प्रतिज्ञा-पत्र लिखने के नियम बनावे, व्यवसाय की स्थिति की पूरी जाँच करे और अंक रखे और उसकी जानकारी और दक्षता का ऐसे लोगों के द्वारा प्रचार करावे जो गाँवों की दशा खुद अच्छी तरह अपने अनुभव से जानते हैं। ऐसी संस्था को शायद पहले एक केन्द्र में विकासित करना पड़े लेकिन ज्यों ज्यों वह व्यवसाय फैले, त्यों त्यों धीरे धीरे एक के बाद दूसरा काम छोड़ता जाय यहाँ तक कि इस भारी संस्था की कोई ज़रूरत ही न रह जाय। आदर्श अवस्था तो खद्दर की तब ही होगी जब जगह जगह जहाँ जहाँ खद्दर खपता है वहीं बनने भी लगेगा। और इस तरह यह स्थानीय कारबार होने पर भी व्यापक कारबार हो जायगा और वह इस अर्थ में कि कातनेवाले और

बुननेवाले किसान और रूई के व्यापारी सब के सब सीधे एक दूसरे से मिलेंगे। किसी बिचवई या दलाल की ज़रूरत न होगी। और अत्यन्त पास के बाज़ारों में माँग के घटने या बढ़ने पर ही माल को बाज़ार से बाहर भेजने की ज़रूरत पड़ेगी और ऐसी बाहर भेजी जानेवाली चीजें उस ज़िले के विशेष प्रकार के कपड़े होंगे। इसमें शक नहीं कि वह दिन अभी बहुत दूर है, परन्तु तो भी उन दिनों को बुलाने के लिये आज से ही हमें पूरा जतन करना चाहिये। हाथ की कताई में जो विचित्र सादगी है, वह इसी उपाय से आवेगी। और तभी दरिद्रों के दुःख दूर होंगे और वह जब पूरे समय तक काम करेंगे तो राष्ट्र के धन में ज़रूर और अच्छी बढंती होगी। देश को उपजाने की ताकत जो इतने दिनों से बेकार पड़ी रही है पूरे तौर पर काम में आवेगी। किसान खुद कातेगा और कपास को अन्न के बराबर कीमती समझेगा। और कपास की फसल उपजाने में वह ज्यादा रुपया कमाने पर आज जो ध्यान देता है, वह आगे इस बात पर ज्यादा ध्यान देगा कि अच्छे प्रकार की कपास पैदा हो जिससे हमारे लिये काफी सस्ते और टिकाऊ कपड़े बन सकें। नव भारतवर्ष अंग्रेजों और दूसरे विदेशियों के लिये कपास का खेत नहीं होगा बल्कि एक ऐसा गौरववाला देश होगा जिसमें कला और व्यवसाय दोनों अपनी पूरी ऊंचाई तक बढ़ चुके होंगे। बहिष्कार को कड़ाई से जारी रखने से लोगों की रुचियाँ बदल जायँगी और बहिष्कार के साथ जो निश्चित संगठन बढ़ेगा उससे भारतीय परिवार कपनी सुस्ती दूर कर देंगे। और देश को मुक्त करने में अपना ठीक ठीक कर्तव्य पालन करेंगे और तब भारतवर्ष

ग्रेटब्रिटेन का वह बढ़िया ग्राहक नहीं रहेगा—जिसका बना रहना ग्रेटब्रिटेन चाहता है—बल्कि वह स्वावलम्बी और संतोषी देश होगा जहाँ का व्यवसाय और जहाँ की उपज संसार को फिर चकरा देगी और तब यह देश न तो ताकत के लिये तरसेगा और न धन बिना दुखी रहेगा। इसके पास औरों को लूटने के लिये लोभ न होगा। अपनी प्रभुता बढ़ाने के लिये दूसरों पर प्रभुत्व जमाने की अभिलाषा न होगी और जो इस देश का परम उद्देश्य है उस उद्देश्य को पाकर यह सतत् प्रयत्न और असीम साहस का उज्ज्वल उदाहरण होगा। एवमस्तु।